रचना का सच

नन्दकिशोर आचार्य

रचना

नन्दकिशोर आचार्य

वाग्देवी
प्रकाशन
बीकानेर

निवेदन

आलोचना मेरे लिए मूलतः अपने ही रचनाकर्म के सवालों को समझने और उन्हें सुलझाने की एक कोशिश रही है। प्रत्येक रचना मूलतः और अन्ततः एक रचनादृष्टि–क्रिएटिव विजन–का रूपग्रहण और सम्प्रेषण है, इसलिए किसी भी पूर्वनिर्धारित प्रतिमान–चाहे उस का आधार कोई विचारधारा हो या सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणा–के साँचे में न अंट सकने वाली रचना को खारिज कर देना या उस की अनदेखी करना रचनात्मकता से कतरा कर निकल जाना ही नहीं अपने को एक विशिष्ट रचनात्मक अनुभव से वंचित रखना है। प्रत्येक कृति अपूर्वानुमेय होती है–तभी तो वह रचना है–इसलिए उसे उस की अपनी मर्यादाओं में ही समझा और ग्रहण किया जा सकता है। समय, विचार, और नैतिक उत्तरदायित्व के सारे सवाल अन्ततः एक रचनादृष्टि में रूपान्तरित हो जाते है। इस रचनादृष्टि के रचनारूप होने के बीच जो कुछ घटित होता है उसे मैं जानना चाहता हूँ। वही मेरी आलोचना है।

इसलिए एक रचनाकार की हैसियत से जब मैं अपने से पहले के या अन्य समकालीन रचनाकारों के कृतित्व पर विचार करता हूँ तो उस में न केवल उस की रचनादृष्टि से साक्षात्कार करता हूँ—जिस से मेरी अपनी रचनादृष्टि को और गहराई और व्यापकता मिलती है—बल्कि उन के रचनाकर्म के सवालों के माध्यम से अपने रचनाकर्म के सवालों को और स्पष्टता से समझने की ओर उन्मुख होता हूँ। एक लेखक के रूप में रचना ही मेरे लिए मुख्य वस्तु है, अन्य साहित्येतर ज्ञान-विज्ञान का उपयोग यही है कि वह रचनादृष्टि से इस साक्षात्कार में मेरी कितनी मदद करता है—वह रचना की कसौटी नहीं है।

इसलिए ये लेख और टिप्पणियाँ कोई मूल्यांकन नहीं हैं–यदि कोई मूल्यांकन यहाँ दिखायी दे भी जाता है तो वह शायद एक आदत का नतीजा है, मेरा उद्देश्य वह नहीं है। मेरी कोशिश एक रचना प्रक्रिया में साझा करने की रही

है। अपनी इस कोशिश में आप को भी शरीक करना चाहता हूँ तो इसीलिए कि आपकी साझेदारी से मेरी इस कोशिश को और ताकत मिल सकेगी।

फिर भी अधिकांश लेख और टिप्पणियाँ शायद नहीं लिखी जातीं यदि वत्सल निधि, राजस्थान साहित्य अकादमी, राजस्थान पत्रिका, इतवारी पत्रिका व अन्य मित्रों-पत्रों का आग्रह नहीं होता। मैं इन सब के प्रति कृतज्ञ हूँ कि इस तरह मुझे अपने समय की रचनादृष्टि से साक्षात्कार की प्रेरणा ही नहीं अवसर भी दिया।

नन्दकिशोर आचार्य

विजयादशमी
22 अक्टूबर, 1985
सुथारों की बड़ी गुवाड़,
बीकानेर (राज)

निर्मल वर्मा के लिए

अनुक्रम

रचना
का सच

साहित्य : पारदर्शिता की साधना

संस्कृति मानवीय अनुभूति की व्यापकता और पारदर्शिता है। साहित्य को और अन्य किसी भी कला को यदि सांस्कृतिक प्रक्रिया कहा जाता है तो इसीलिए कि साहित्य मानवीय अनुभूति के लिए, मानव के अनुभव यन्त्र की सवेदनशीलता के लिए व्यापकता, गहराई और पारदर्शिता अर्जित करने की साधना होता है। अनुभूति की व्यापकता, गहराई और पारदर्शिता के क्या मानी है ? दरअसल, ये तीनों बातें एक दूसरे से अलग नही है–ये एक दूसरे मे गुँथी हुई हैं। प्रत्येक मानवीय अनुभूति सत्य के किसी न किसी रूप की ओर ले जाती है। लेकिन सत्य के कई स्तर और रूप होते है और साहित्यकार किसी एक स्तर या रूप को आधार की तरह इस्तेमाल करता हुआ जो रचना करता है वह इतनी संश्लिष्ट होती है कि सत्य के कई स्तर और आयाम उसमें एक साथ झिलमिलाते है। कई स्तरो का यह एक साथ झिलमिला सकना ही साहित्य का सौन्दर्य है, यही साहित्यकार की कला है, इसी मे उसकी सर्जन-प्रतिभा के दर्शन होते है। लेकिन ऐसा तभी हो सकता है जब किसी भी अनुभव को उसकी समग्रता मे, उसके हर आयाम मे ग्रहण किया जा सके। प्रत्येक अनुभव समग्रता की ओर ले जा सकता है यदि ग्रहण करने वाला मन इतना निर्मल, इतना स्वच्छ हो कि वह उस अनुभव को बिना किसी पूर्वग्रह के ग्रहण कर सके। ग्रहण करने वाले मन की अपनी सलवटें और पर्दे उस अनुभव को एकायामी या विकृत कर सकते हैं, इसलिए साहित्यकार-कलाकार मात्र–के लिए साधना का पहला चरण यही होता है कि वह अपने मन को, अपने सवेदन-यन्त्र मे आ रही सलवटो और परतों को इस प्रकार हटाये कि कोई भी मानवीय अनुभव अपनी समग्र संश्लिष्टता के साथ उस मे इस प्रकार बिम्बित हो कि उस मे निहित सभी आयाम और स्तर एक साथ उद्घाटित हो सकें। अनुभव की पारदर्शिता का तात्पर्य यही है।

यह पारदर्शिता श्रेष्ठ साहित्य का एक अन्यतम गुण है। साहित्य की उत्तमता के, उस के कलात्मक उत्कर्ष के भी कई स्तर होते हैं जिनका निर्धारण इसी आधार

पर हो सकता है कि साहित्यकार के ग्रहण-यन्त्र ने यह पारदर्शिता किस सीमा तक अर्जित की है। श्रेष्ठतम समझे जाने वाले साहित्य मे यह गुण अपने श्रेष्ठ-तम रूप मे पाया जाता है। यही कारण है कि श्रेष्ठ साहित्य में सामान्य तौर पर बुरे से बुरे समझे जाने वाले चरित्र को भी इस तरह प्रस्तुत किया जाता है कि उसकी बुराई के तत्त्व को ठीक-ठीक तरीके से पहचान सकने के बावजूद उस चरित्र के प्रति हमारे मन मे घृणा नही बल्कि करुणा उपजती है। करुणा का यह भाव किसी गलदश्रु भावुकता का पर्याय नही बल्कि उस निस्संग आत्मान्वेषण का ठोस प्रतिफल है जो उस कृति को पढने पर हम मे उद्भूत होता है। हम चरित्र की बुराई को ही नही पहचानते बल्कि अपने मन मे कही गहरे दबे बुराई के तत्त्व को भी जान लेते है और साथ ही यह भी पहचान लेते हैं कि मनुष्य मात्र के मन मे ऐसी कितनी बुराइयाँ न जाने कैसे-कैसे रूपो मे छुपी होगी। यह पहचान हमारे मन की, हमारे अपने अनुभव-यन्त्र की पारद-र्शिता के बिना सम्भव नही है। यदि हम साहित्य पढकर यह पहचान कर पाते है तो यह न केवल साहित्यकार की अनुभव-क्षमता और सर्जन-प्रतिभा का ही प्रमाण है बल्कि इस बात का भी प्रमाण है कि साहित्य हमारे, हम पाठको-श्रोताओ के मन को भी—उनके अनुभव-यन्त्र को भी अधिक सवेदनशील और अधिक पारदर्शी बना सका है। महान साहित्य पढते हुए हम इसी कारण अच्छे-बुरे को पहचानते हुए भी उससे ऊपर उठ जाते है—नैतिक स्तर से भी ऊपर उठ कर एक आध्यात्मिक स्तर तक पहुँच जाते हैं और वही सर्वोच्च शुभ है क्योकि वहाँ बुरे के लिए भी केवल घृणा नही है बल्कि शुभ की आकाक्षा है।

कभी-कभी मुझे लगता है कि हमारे प्राचीन साहित्य में कई स्थलो पर ईश्वर द्वारा बुरे के सहार और इस कारण उस के मोक्ष प्राप्त कर लेने की जो कथाएँ मिलती हैं वे अन्य बातो के साथ इस सत्य को भी रेखांकित करती हैं कि चेतना के उच्चतम स्तर पर घृणा का अस्तित्व नही हैं, वहाँ बुरे के प्रति भी शुभ की आकाक्षा है—बल्कि शायद उसके प्रति करुणा का भाव अधिक है। वह अच्छे चरित्र की तुलना मे मानसिक-आध्यात्मिक स्तर पर कमजोर है। अत. उसे सहानुभूति और करुणा की आवश्यकता शायद अधिक है और इसी कारण वह ईश्वरीय कृपा मे मोक्ष की उपलब्धि करता है। मेरा मन्तव्य किसी धार्मिकता की भावना की ओर ध्यान आकर्षित करना नही है—वह काम सन्तो का है। यहाँ सिर्फ इसी बात की ओर ध्यान आकर्षित करने की कोशिश है कि धार्मिक

भावना के बिना भी जीवन-मात्र के लिए एक किस्म के एकत्व की, और इसलिए सभी के लिए करुणा और सहानुभूति की अनुभूति हो सकती है और वह भी एक किस्म की आध्यात्मिकता है—चाहें तो उसे धर्म-निरपेक्ष आध्यात्मिकता कह सकते हैं। यह तय है कि इस आध्यात्मिकता के बिना न दूसरों मे स्वयं को देखा जा सकता है और न अपने में दूसरो को पहचाना जा सकता है। इसके बिना अपने से ऊपर उठकर दूसरे के कल्याण की, समष्टि के कल्याण की भावना अंकुरित तक भी नहीं हो सकती। महान क्रान्तियाँ भी क्या इस प्रकार की धर्म-निरपेक्ष आध्यात्मिकता के बिना सम्भव हो सकती है ?

यह आध्यात्मिकता प्रकारान्तर से मानवीय अनुभूति की गहराई, व्यापकता और पारदर्शिता ही है क्योंकि इन तीनों गुणों के उत्कर्ष के बिना इसकी कल्पना भी नही की जा सकती। निश्चय ही इन गुणों के उत्कर्ष की साधना का एक श्रेष्ठ रूप साहित्य है। सन्तो और कलाकारो को इसी दृष्टि से कई बार एक ही कोटि में रखा जा सकता है और इसलिए आश्चर्य नही होना चाहिए कि सार्त्र ने ज्यां जेने को (जिनके व्यक्तिगत जीवन को भी शायद किसी भी प्रचलित नैतिक मापदण्ड से वांछनीय नही माना जा सकता था) 'सन्त जेने' का दर्जा दिया है। रामायण, महाभारत, प्राचीन यूनानी नाटकों या शेक्सपियर, टॉलस्टॉय और दॉस्तोएव्स्की जैसे लेखकों की कृतियो को पढते हुए कई बार ऐसी पारदर्शिता की अनुभूति होती है और तब किसी के प्रति घृणा शेष नही रहती—एक व्यापक करुणा से मन भर आता है। इस करुणा को दया के अर्थ में नही जीवन मात्र के बोध की कृतज्ञता के एक भाव के रूप मे समझा जाना चाहिए।

इस पारदर्शिता को अर्जित करने के लिए पाठक को भी कुछ न कुछ श्रम तो करना ही होता है—यद्यपि श्रेष्ठ साहित्य को नियमित पढते रहना और उस पर चिन्तन करते रहना अपने-आप में इसी दिशा की ओर ले जाने वाली एक साधना ही है। लेकिन पाठक मे इस गुण का उत्कर्ष तभी सम्भव है जब साहित्यकार ने स्वयं इस स्तर को अर्जित कर लिया हो। तब यह विचार करने की बात हो जाती है कि क्या आज का लेखक इस ओर सचेष्ट है ? क्या वह इस तरह की निस्संगता अर्जित करने की ओर सजग है जो किसी भी अनुभव की, चरित्र के प्रति अच्छे और बुरे की उसकी पहचान को बनाये रखते हुए भी इस तरह की शुभाकांक्षा का उत्कर्ष कर सके ? क्या वह अपने अनुभव-जगत को इतना समर्थ बनाने के लिए प्रयासरत है कि अपने मन के सभी पूर्वग्रहों

को पहचानते हुए उस से ऊपर उठकर किसी भी अनुभव को एक अनुभव की तरह–व्याख्या का तरह नहीं–ग्रहण कर सके ? तभी वह अपने माध्यम मे–भाषा मे अपनी अभिव्यक्ति मे–भी वह सामर्थ्य उजागर कर पायेगा जो शब्द और अर्थ की, रूप और अनुभूति की एक-दूसरे में अपरिहार्य गुँथे होने की, एक संश्लिष्ट कृति की रचना कर सके।

यदि साहित्यकार को इस स्तर पर पहुँचना है तो उसे इस पारदर्शिता मे बाधक सभी पूर्वग्रहो से मुक्त होने की साधना करनी होगी। इसमें यह भी सम्भव है कि उसका अधिकांश साहित्य इस साधना-प्रक्रिया मे से गुजरने का ही साहित्य होकर रह जाये–लेकिन वह भी सार्थक होगा क्योंकि उसकी प्रवृत्ति ठीक दिशा की ओर अग्रसर होगी। लेकिन संकीर्ण मतवादिता, अन्धी आस्था और व्यक्तिगत राग-द्वेष से ऊपर उठे बिना इस ओर बढना सम्भव नही है। किसी भी प्रकार का आग्रह सत्य को, यथार्थ को और उसकी अनुभूति को दूषित और उसकी अभिव्यक्ति को कम प्रभावी कर सकता है। सत्य का–चाहे तो कह लीजिए यथार्थ का–निराग्रह ग्रहण श्रेष्ठ साहित्य की पहली शर्त है। सन्त और कलाकार यदि एक कोटि मे रखे जा सकते है तो इसी अर्थ मे कि वे दोनो ही निराग्रह होने की साधना करते है और इसी के फलस्वरूप अपने मे पारदर्शिता *और करुणा का उत्कर्ष अर्जित कर पाते हैं और इसीलिए दोनों मे विनय और* ऋजुता पायी जाती है। जब वह यह निराग्रहशीलता छोड़ देते है तो एक कट्टर साम्प्रदायिक हो जाता है और दूसरा मतवादी प्रचारक और इसलिए दोनों में एक प्रकार की असहिष्णुता और घृणा का विकास होने लगता है जिसका चरम विकास हिंसा मे, और कभी-कभी– आत्म-हिंसा मे भी हो सकता है। यह शुभ है कि तब भी उनका मन्तव्य तो अच्छा ही होता है क्योंकि नीयत का बदलना मुश्किल होता है, उसके ठीक रहने पर समझ के विकास की सम्भावना तो बनी ही रहती है।

यथार्थ की सृष्टि और कथाभाषा

यथार्थ और साहित्य के अन्तस्सम्बन्धों को लेकर हुए विचार-विमर्श और विवादों तथा साहित्यिक आलोचना मे विभिन्न दृष्टिकोणों के बावजूद अक्सर इतना तो स्वीकार किया जाता रहा है कि साहित्य—बल्कि सभी कला रूप—यथार्थ की पहचान और सम्प्रेषण की संवेदनात्मक प्रक्रिया हैं। यथार्थ की अवधारणा, स्वरूप, विश्लेषण और उसके बोध की प्रामाणिकता को लेकर तो मतभेद रहे हैं। यथार्थ क्या है? वह एकस्तरीय है या बहुस्तरीय? यथार्थ अधिक महत्वपूर्ण है या विचारधारा अथवा दृष्टिकोण? साहित्य मे यथार्थ की प्रस्तुति भर ही वांछनीय है या भविष्यत् परिवर्तन की दिशा के निर्धारण और उसके लिए प्रेरणा देना भी साहित्य कर्म है? ये सभी प्रश्न ऐसे हैं जिन पर निरन्तर बहसें और साहित्यिक आन्दोलन होते रहे है, लेकिन इन सभी बहसों मे इस बात पर लगभग आम स्वीकृति रही है कि साहित्य का एक बुनियादी काम यथार्थ की प्रस्तुति करना है, कि वह यथार्थ का जानने और उसे सम्प्रेषित करने का एक माध्यम है। इस स्वीकृति में तब क्या यह प्रतिज्ञा भी अन्तर्निहित नही है कि यथार्थ की स्थिति साहित्य से बाहर कही है और साहित्य का काम उसे इस प्रकार जस का तस प्रस्तुत कर देने की कोशिश करना है कि वह सवेदनात्मक स्तर पर सम्प्रेषित हो सके। दूसरे शब्दो मे इसका तात्पर्य यह हुआ कि साहित्य की सत्ता, उसका औचित्य और प्रासगिकता एक ऐसे यथार्थ से जुड़े होने में है जिसका अस्तित्व उसके बाहर है, साहित्यकार उस यथार्थ की विविध व्याख्याओं और उसके प्रति अपनाये गये विविध दृष्टिकोणों मे से तो किसी को भी चुनने के लिए स्वतन्त्र है, लेकिन वह अनिवार्यतः उसी से बद्ध है, उसकी सर्जनात्मकता उससे नियमित है। कहना न होगा कि यह दृष्टिकोण न केवल साहित्य के स्वायत्त अस्तित्व का पूरी तरह अतिक्रमण करता है बल्कि मानवीय सर्जनात्मकता को भी केवल यथार्थ के सम्प्रेषण के लिए उपयुक्त युक्तियो की तलाश तक ही सीमित कर देता है। यदि एक बार इस प्रतिज्ञा से आरम्भ कर दिया जाय कि साहित्य का प्रयोजन अपने से बाहर स्थित यथार्थ का सम्प्रेषण है तो फिर कोई तर्क नही बचता कि यथार्थ की पहचान की कसौटी

भी तब साहित्य के बाहर की ही क्यों न हो ? और यदि साहित्य माध्यम ही है तो उसका उपयोग साहित्येत्तर उद्देश्यों की पूर्ति के लिए क्यों नहीं किया जाय ? और तब इस उपयोगिता के आधार पर ही उसकी उत्कृष्टता का मूल्यांकन स्वाभाविक होगा। कलात्मक या साहित्यिक श्रेष्ठता का मापदंड तब ऐसे बिम्बों उपमानों आदि की रचना कर देना रह जायेगा जो इन साहित्येत्तर उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक सिद्ध हो सके। जाहिर है कि यह स्थिति हम में से अधिकांश को स्वीकार नहीं होगी—केवल इसलिए ही नहीं कि इससे कलाकार की स्वतन्त्रता, उसकी सर्जनात्मकता बाधित होती है बल्कि इस लिए भी कि यह सत्य नहीं है।

यथार्थ की जानकारी के लिए किये गये प्रयत्नों की एक लम्बी शृंखला के बाद मानवीय चेतना बीसवीं शताब्दी में जिन कुछ अजीब से निष्कर्षों पर पहुँची है उनमें से एक यह भी है कि यथार्थ की तद्वत् पहचान सम्भव नहीं है। यह बताया गया है कि हम जिस किसी भी माध्यम से यथार्थ को पहचानने का उपक्रम करते है उस माध्यम का होना ही यथार्थ के हमारे ग्रहण को, हमारी पहचान को अनिवार्यत: प्रभावित करता है। इसलिए हम जो कुछ जान पाते हैं वह कोई निरपेक्ष यथार्थ नहीं हमारे माध्यम की प्रकृति से रूपान्तरित यथार्थ होता है। दूसरे शब्दों में, यथार्थ की पहचान की हमारी प्रक्रिया ही हमारा यथार्थ हो जाती है बल्कि तब वह यथार्थ की पहचान की नहीं, यथार्थ की सर्जन की प्रक्रिया हो जाती है और हम उसी का सम्प्रेषण कर रहे होते है। इसलिए जब भी हम यथार्थ की कोई नयी पहचान, यथार्थ के प्रति किसी नयी दृष्टि का अनुभव करते है तो वास्तव में समूचे यथार्थ का, यथार्थ के हमारे समूचे बोध का नया सर्जन कर रहे होते हैं। यह बात जितनी विज्ञान के सन्दर्भ में सच है उतनी ही साहित्य और कलाओं के सन्दर्भ में भी। विज्ञान का एक नया निष्कर्ष समूचे प्राकृतिक विश्व को हमारे लिए नया कर देता है और किसी कृति से साक्षात्कार के बाद भी तो हम वही नहीं रह जाते, हमारा बोध वही नहीं रह जाता—और हम क्या हैं सिवा इस बोध के ?—जो पहले था। अपने परिवेश सहित हम नये सिरे से रचे गये हो जाते हैं। कला या साहित्य की किसी भी विधा में कोई रूपगत परिवर्तन इसलिए केवल कलागत प्रयोग नहीं रहता, वह हमारी सम्पूर्ण साहित्य-दृष्टि, कहना चाहिए कि साहित्य के माध्यम से हमारे सम्पूर्ण यथार्थ-बोध की नयी रचना कर देता है।

यथार्थ के कई स्तर ही नहीं होते उसके कई रूप या प्रकार और पहलू भी होते

है। इसलिए यथार्थ की पहचान की विभिन्न प्रणालियो को, उसकी ऐन्द्रिक और भाषिक पहचानो को एक ही वर्ग मे नही रखा जा सकता। यदि माध्यम यथार्थ की नयी रचना करता है तो मानना होगा कि यथार्थ के उतने ही प्रकार सम्भव है जितने प्रकार के माध्यमो से हम उसे पहचानने का उपक्रम करते है। विभिन्न प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानो की तरह साहित्य और कला के विवध रूप भी यथार्थ की पहचान और पहचान की इस प्रक्रिया में उसकी रचना के विविध स्वायत्त माध्यम है। स्वायत्त वे इसी अर्थ मे है कि यथार्थ की उनकी रचना अपने से इतर किसी माध्यम के अनुशासन से नियन्त्रित नही है और उसकी सर्जनात्मकता उनके माध्यम की अपनी प्रकृति मे ही अन्तर्भूत है। साहित्य का, साहित्य के प्रत्येक रूप का और इसलिए प्रत्येक कथारूप का अपना औचित्य इस बोध मे निहित है कि वह यथार्थ की एक ऐसी रचना करता और उसकी पहचान भी करवाता है जो अन्य किसी भी प्रकार से सम्भव नही है। यदि साहित्य या कला के माध्यम से भी हम यथार्थ की ठीक वही पहचान करते है जो प्राकृतिक या सामाजिक विज्ञानो के द्वारा भी सम्भव है तो उनके अलग अस्तित्व की अनिवार्यता का औचित्य सन्दिग्ध हो जाता है।

भाषा और यथार्थ की पहचान पर विचार करते हुए विट्गेंस्टाइन के निष्कर्षों मे जो बुनियादी परिवर्तन हुआ उसके माध्यम से हम यथार्थ और विभिन्न साहित्य रूपो—क्योकि ये रूप मूलत· भाषा होते है—के अन्तस्सम्बन्धो की आधार भूमि को समझ सकते हैं। प्रारम्भ में विट्गेंस्टाइन की मान्यता थी कि यथार्थ की सरचना भाषा की संरचना को प्रभावित करती है जिसे उन्होने अपने ग्रन्थ "ट्रेक्टेटस" मे व्यक्त किया। लेकिन अपने दूसरे ग्रन्थ "फिलासॉफिकल इन-वेस्टिगेशस" मे इस मान्यता को उलटते हुए उनका निष्कर्ष था कि हमारी भाषा यथार्थ के प्रति हमारी दृष्टि या बोध को निर्धारित करती है क्योकि हम उसके माध्यम से ही यथार्थ को पहचानते है। यह निष्कर्ष हाइजेनबर्ग के उस निष्कर्ष से मिलता-जुलता है जिसके अनुसार यथार्थ की हमारी पहचान माध्यम से अनिवार्यत. प्रभावित होती है। यदि हम यह अस्वीकार नही करें कि भाषा केवल अभिधात्मक या सूचनात्मक ही नहीं होती और उसके अनेक रूप और शैलियाँ होती है, कि वह केवल जानकारी का नही विचार, अनुभव और चेतना के विकास का माध्यम भी हो सकती है, कि उसकी सर्जनात्मक सम्भावनाएँ असीम हैं और उसमे नये-नये रूपाकारो की रचना सम्भव है, तो अनिवार्यत. हमे यह मानना होगा कि साहित्य के विविध रूप भाषा मे निहित बहुआयामी

अर्थ—रूपगर्भिता के आधार पर विकसित होते है और इन विधाओ का हर नया रूप यथार्थ की नयी रचना करता है । कथा भापा का ही एक विशिष्ट रूपाकार है और इसलिए यथार्थ की रचना और उसकी पहचान का एक विशिष्ट माध्यम है जिसका पहला और अन्तिम आधार भाषा का स्वभाव ही है। अतः डेविड लॉज की इस धारणा को अस्वीकार नही किया जा सकता कि एक 'उपन्यासकार उपन्यासकार की हैसियत से जो कुछ भी करता है वह भाषा और भाषा के माध्यम से करता है।' इसका सीधा तात्पर्य यही है कि कथाकार किसी पूर्व निर्धारित अर्थ को भाषा नही देता बल्कि भाषा के ज़रिये भाषा की अपनी प्रकृति के निर्देशानुसार उसी मे अर्थ की तलाश करता है। इसलिए साहित्य का प्रयोजन किसी साहित्येतर यथार्थ की अभिव्यक्ति करना नही है, उसका केन्द्रीय सरोकार साहित्यगत यथार्थ से है जो स्वयं मे एक विशिष्ट और स्वायत्त यथार्थ है और जिसका अनुभव साहित्य रूप मे से गुजरने पर ही सम्भव हो पाता है बल्कि कथा भी उसी प्रकार तक पहुँचने की एक विशिष्ट प्रणाली है जो अपने तरीके से यथार्थ की अलग रचना करती है। इस विशिष्ट प्रणाली का अनुभव या बोध पाठक तक सम्प्रेषित करना ही कथाकार से अपेक्षित है। उसके और उसके पाठक के लिए तो वह प्रणाली ही अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वही तो उसके लिए यथार्थ का स्वरूप निर्धारित करती है। कथा मे स्थूल घटनाओ या ब्यौरो की विश्वसनीयता इसीलिए साहित्य-गत यथार्थ की विश्वसनीयता की कसौटी नहीं है क्योंकि कथा साहित्येतर घटनाओ या ब्यौरो का बोध नही बल्कि भाषा के एक विशिष्ट सर्जनात्मक प्रकार के माध्यम से कथात्मक यथार्थ का बोध है। कुछ लोगो को इस पर आपत्ति हो सकती है लेकिन यह निर्विवाद है कि ब्यौरो या घटनाओ का क्रम कथा की सर्जनात्मक आवश्यकता के अनुरूप निर्धारित होता है क्योंकि उनका प्रयोजन कथा के विकास में सहायक होना है, ऐसा न होने पर उनका यथा-तथ्य विवरण भी न केवल व्यर्थ बल्कि कथा के विकास और कथात्मकता के सम्प्रेषण में बाधक सिद्ध होता है। इसी से जाहिर है कि बाह्य यथार्थ को कथा मे तब तक कोई जगह नही है जब तक वह उसके किसी आन्तरिक प्रयोजन को पूरा नही करता हो। फैंटेसी जैसी विधियो की सर्जनात्मक अनिवार्यता इस बात को प्रमाणित नही करती कि न केवल यथार्थ स्थूल विश्वसनीयता से परे है बल्कि कई बार उसका अतिक्रमण किये बिना यथार्थ के कई रूपो की पहचान सम्भव ही नही है लेकिन यह गौरतलब है कि फैंटेसी मे भी स्थूल

घटनाओ या ब्यौरो की विश्वसनीयता का तो अतिक्रमण किया जा सकता है पर भाषिक विश्वसनीयता की अनदेखी नही की जा सकती है–बल्कि शायद इन परिस्थितियों में उसे अर्जित करना अधिक वाँछनीय हो जाता है।

इसलिए कथा भाषा के विविध रूप और शैलियाँ यथार्थ की रचना की विविध शैलियाँ या प्रणालियाँ हैं। इन शैलियो का विकास किन परिस्थितियो मे होता है और उसमें सामाजिक परिस्थितियों की भी कोई भूमिका रहती है या नहीं, इस पर बहस हो सकती है लेकिन जैसा कि स्वयं लूकाच का निष्कर्ष है कि कथाभाषा की ये विविध शैलियाँ यथार्थ तक पहुँचने के विविध रास्ते है और इन के कलात्मक परिणाम भिन्न-होते है और यह भी तय है कि इन विविध प्रणालियों के माध्यम से यथार्थ का जो स्वरूप उजागार होगा उनमे भी किसी न किसी प्रकार की विविधता अवश्य होगी। ये विविधताएँ सतही नही होती बल्कि सभी भाषागत विविधताएँ सतही नही कही जानी चाहिए क्योकि जैसा कि विट्गेंस्टाइन ने कहा है वे भाषा की एक गहरी सरचना को अभिव्यक्त करती हैं जिसमे वे एक ही परिवार के विविध चेहरो की तरह सम्बद्ध रहती है। स्पष्ट है कि ठीक यही बात भाषा मे यथार्थ की रचना और उसके सम्प्रेषण के विविध रूपों के बारे में कही जा सकती है। इसलिए उन्हे किसी साहित्येतर यथार्थ या सामाजिक परिस्थितियो की उपज मात्र मानना गलत होगा क्योकि इनके बदल जाने पर भी उनमे निहित दृष्टि और यथार्थ का बोध अप्रासंगिक नही हो जाता। स्वयं मार्क्स की कठिनाई यही थी कि परिस्थि-तियो के बदल जाने पर भी ग्रीक कला और महाकाव्य न केवल कलात्मक आनन्द देते हैं बल्कि कलात्मक उत्कृष्टता के दुष्कर आदर्श बन हुए है। स्पष्ट है कि ऐसी कलाकृतियो मे यह गुण भाषा के अपने स्वभाव और विशिष्ट सर्जनात्मक गुणो की वजह से है-यह उत्कृष्टता किसी पूर्वस्थापित यथार्थ की प्रस्तुति के कारण नही बल्कि भाषा मे यथार्थ के किसी ऐसे अनुभव की रचना के कारण है जो सामान्य यथार्थ का अतिक्रमण करने मे ही सम्भव है और जो अपने विशिष्ट तरीके से केवल भाषा और हमारी बहस के सन्दर्भ मे केवल कथा भाषा ही कर सकती है।

लेकिन भाषा की अपनी प्रकृति की वजह से ही लेखक और विशेषतया सर्जना-त्कम गद्य लेखक के सम्मुख कई तरह की समस्याएं प्रस्तुत हो जाती है। भाषा का एक निश्चित सार्वजनिक अर्थ होता है और गद्य इस अर्थ को एक संगति में व्यक्त करता है। गद्य का गठन वाक्यों की पारस्परिक अर्थसंगति पर

निर्भर करता है, उसके बिना वह निरर्थक हो जा सकता है। कथाकार को भाषा-व्यवहार के सार्वजनिक नियमो का पालन करते हुए यथार्थ की निजी रचना करनी होती है। सार्वजनिक यथार्थ और कथागत यथार्थ के बीच का यह तनाव भाषा की तार्किक सगति और अनुभूति की अतर्क्य कौध के बीच का तनाव है। गद्य वाक्यो के पूर्वापर सम्बन्ध या ससर्ग से आगे बढता है। नाटक मे या सवादात्मक लेखन मे भाषा का प्रयोग प्रत्युत्तर जगाता है और उससे आगे का विकास सम्भव हो जाता है, लेकिन वृत्तान्त गद्य (नैरेटिव प्रोज) की विवशता यह है कि उसे वाक्यो के सगतिमूलक ससर्ग पर निर्भर रहना पड़ता है जिसका साहित्यिक परिणाम यह होता है कि वाक्यो की इस ससक्ति के लिए इनके माध्यम से रचे जा रहे यथार्थ मे भी एक सगति या क्रम-व्यवस्था रच जाती है। स्पष्ट है कि यह क्रम व्यवस्था देशगत ही नही कालगत भी होती है जबकि अनुभूति या रचना के क्षण देश और काल की सीमाओ की अयथार्थता की पहचान मे ही सम्भव हैं।

यदि कथाकार का आग्रह स्थूल घटनाओ या ब्यौरो की प्रस्तुति का ही होता तो उसका काम आसान हो जाता क्योकि तब सामान्य अभिधात्मक भाषा के सहारे वह अपने प्रयोजन की सिद्धि कर सकता है। लेकिन उसके लिए भाषा स्वय एक बहुआयामी अर्थगर्भ यथार्थ है जिसे उजागर करने के लिए उसे भाषा के बहुस्तरीय प्रयोग की ओर उन्मुख होना पडता है। इसलिए सामान्य भाषा प्रयोग कि बजाय लाक्षणिकता का विकास सामान्य कथागद्य की भी एक अनिवार्यता बन जाता है। सूचनात्मक या शुद्ध तार्किक भाषा और कथाभाषा के बीच यह एक बुनियादी फ़र्क है। लेकिन गद्य के स्वभाव को बनाये रखने की आवश्यकता के कारण यह लाक्षणिकता कविता मे व्यक्त लाक्षणिकता से भी भिन्न होती है। कविता वाक्यो के पारस्परिक क्रम-गत ससर्ग पर नही शब्दो के पारस्परिक संघात पर निर्भर करती है इसलिए उसमे वाक्य-सगति आवश्यक नही होती है और वह क्रमगत ससर्ग पर नही सादृश्य विधान पर अधिक आग्रह करती है। यही कारण है कि कविता की भाषा मे रूपकात्मकता की ओर अधिक रुझान रहता है जबकि कथाभाषा मे ससर्गमूलक लाक्षणिकता पर। इसी कारण रोमन जैकबसन ने गद्य की भाषा को 'मेटोनिमिक' और कविता की भाषा को 'मेटॉफारिक' माना है। सामान्यत कथाभाषा की लाक्षणिकता भी इसलिए ससर्गमूलक अधिक होती है क्योंकि उसमे तर्कसगति की सम्भावना अधिक रहती है। भारतीय साहित्य शास्त्र मे

लाक्षणिकता के इस प्रकार को ही शायद 'अजहत्स्वार्था लक्षणा' कहा गया है। सर्जनात्मक लेखन में लाक्षणिक भाषा का प्रयोग इस बात का भी प्रमाण है कि यथार्थ के एक से अधिक स्तर हो सकते हैं, कि यथार्थ एक संश्लिष्ट रचना है जो भाषा के माध्यम से सम्भव है।

क्रमबद्ध संगति के अनुशासन के कारण कथाभाषा मे संश्लिष्ट यथार्थ की रचना और सम्प्रेषण से सम्बन्धित कई चुनौतियाँ प्रस्तुत हुईं। प्रारम्भिक काल मे कथाकार अधिकांशतः भाषा की संसर्गमूलक लाक्षणिकता और वृत्तान्त शैली पर ही आधारित रहा लेकिन इस गद्य की एक सीमा यह रही कि यह यथार्थ के इकहरे स्वरूप की ही रचना कर पाता था जबकि कोई भी एक रूप सिर्फ एक रूप नहीं है। हर संरचना एक संश्लिष्ट सरचना है इसलिए कथाकार को अपनी भाषा से असन्तोष लाजिमी था और साहित्य के बाहर यथार्थ के सम्बन्ध मे हुई खोजो ने उसके असन्तोष को और उकसाया क्योंकि हर जगह यथार्थ को एक संश्लिष्ट रचना के रूप मे देखा जाने लगा — भाषा की एक दूसरी विधा कविता मे तो यह प्रारम्भ से ही उसके विशिष्ट स्वभाव के कारण संश्लिष्ट रचना था। आधुनिक कथा की समस्याओ पर विचार करते हुए डेविड लॉज का भी यही निष्कर्ष है कि कथा की केन्द्रीय समस्या यह है कि कोई भी यथार्थ अब इकहरा यथार्थ नहीं है। एक साथ सब कुछ को व्यक्त कर पाना आधुनिक कथा भाषा की केन्द्रीय चुनौती है जिसे अज्ञेय ने यथार्थ की "क्रमहीन सहवर्तिता" कहा है।

स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति में कथा भी भाषा के ही दूसरे सर्जनात्मक रूप कविता के गुणो को अपने मे आत्मसात् कर अपनी रचनात्मकता को अधिक सामर्थ्य देने की कोशिश करती। इस कोशिश मे वह कविता तो नही हो सकती थी क्योंकि एक क्रमबद्धता और वाक्य-सगति की अनिवार्यता उसके अस्तित्व का हिस्सा है लेकिन अपनी सीमाओ मे काव्य भाषा के विशेष गुण रूपकात्मकता को अपने मे विकसित करने और मुक्त साहचर्य की युक्ति या कभी-कभी शब्दो के पुनराव के माध्यम से काव्यात्मक संश्लिष्ट यथार्थ की रचना के प्रयास उसके द्वारा किये जाने लगे। अपनी शैली मे वृत्तान्त की जगह चित्रण और भाषा की संरचना मे रूपकात्मकता की ओर बढ़ता हुआ झुकाव इसी सर्जनात्मक आवश्यकता के परिणाम कहे जा सकते है। मार्सेल प्रूस्त उन पहले लेखको मे थे जिन्होने कथाभाषा में रूपकात्मकता की इस आवश्यकता को बखूबी पहचाना था। उपन्यास को मूलतः एक स्मृति की तरह

परिभाषित करते हुए उनकी मान्यता यही थी कि रूपक के बिना सच्ची स्मृति सम्भव नही है– इस पर जेरार्ड जेने की टिप्पणी है कि संसर्गमूलक सगति के बिना स्मृतियो का सयोजन और कहानी-उपन्यास ही सम्भव नही है। इस प्रकार काव्यभाषा और पारम्परिक गद्यभाषा के बीच का यह तनाव ही आधुनिक कथाभाषा का तनाव है। रूपकात्मकता की बढती हुए प्रवृत्ति या तो गद्य को कविता मे बदल देती है या एक ऐसे गद्य की रचना करती है जहाँ भाषा और इसलिए भाषा मे सरचित सश्लिष्ट यथार्थ भी चरमराने लगता है। जेम्स ज्वॉयस के प्रयोग विशेषतया 'फिनेगंस वेक' इसके प्रमाणस्वरूप उद्धृत किये जा सकते है। इसी तरह वृत्तान्त शैली की जगह चित्रात्मकता का बढता हुआ प्रभाव आख्यान तत्त्व या कथाक्रम को आघात पहुँचाता है और यथार्थ को एक अनुभव की तरह नही एक दृश्य वर्णन की तरह प्रस्तुत करने लगता है। सैमुअल बैकेट की कहानी 'पिंग' इस प्रवृत्ति का एक अच्छा उदाहरण है जिसमे प्रेक्षण तो है पर क्रिया अर्थात् सक्रिय अनुभव नही है। जाहिर है कि इस तरह के प्रयोग हमे एक भाषा–प्रवृत्ति की सीमाओ तक ले जाकर लौटाने पर मजबूर कर देते है, यद्यपि इस प्रकार लौटाने की प्रक्रिया मे हम ठीक वही नही रहते जो उन सीमाओ को पहचानने से पहले थे– *हमारी भाषा भी ठीक वैसी ही नही रहती। यदि हम उस के बाद आख्या–*नात्मकता या क्रमबद्धता की ओर फिर उन्मुख होते भी हैं तो यह प्रक्रिया आख्यानात्मकता और चित्रणात्मकता तथा रुपकात्मकता और क्रमबद्धता के बीच एक नये भाषिक समन्वय के रास्तो की तलाश हो जाती है।

हिन्दी मे प्रेमचन्द और रेणु के यथार्थ का फर्क केवल आँचलिकता का फ़र्क नही है। प्रेमचन्द मूलत· वृत्तान्तशैली के कथाकार है, इसलिए उनकी भाषा मे भी वाक्यगत सगति अधिक है और रूपकात्मकता कम जबकि रेणु मूलत: चित्रणशैली का आग्रह रखते हैं, अत उनके लिए कथाक्रम की बजाय पूरे गाँव को, हर ब्यौरे को एक सश्लिष्ट अनुभव की तरह रचना स्वाभाविक है जो रूपकात्मक भाषा मे ही सम्भव है। शायद यही कारण है कि प्रेमचन्द ग्रामीण विशेषताओं को कुछ चरित्रो के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं जबकि रेणु का गाँव स्वय एक चरित्र है। ये यथार्थ के प्रति दो बोधाभिगम हैं जो भाषा के जरिये रचे और विश्लेषित किये जा सकते है। अज्ञेय और निर्मल वर्मा की कथाभाषा को अक्सर काव्यात्मक कह दिया जाता है तो उसका कारण भी यही है कि इन लेखको की भाषा रूपकात्मकता और कही-कही कुछ शब्दो के पुन-

राव से काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करती है। "नदी के द्वीप" से एक उद्धरण लें :

रेखा ने कहा-"फल तो लगभग सब उतार लिये गये है, जिधर है उधर ही चले उधर तो कुछ धूप भी होगी।"

भुवन को याद आया। डूबते सूर्य का उन्होने पीछा किया था और हार गये थे। नही, आज वह डूबते सूर्य का पीछा नही करेगा; सूर्य को डूब जाने दो, पकते सेब पर उसकी धूप की चमक ही इष्ट है-उसी को वह देखेगा, उस की लालिम कान्ति मे सूर्य की धूप पकेगी, सुफला होगी . शारदीपा साँझ की धूप मे फलो लदा सेब का पेड़-जीवन के आशीर्वाद का, जीवन-रूप आशीर्वाद का, इससे बढकर कौन प्रतीक है ? शरदारम्भ अभी नही हुआ, अभी बरसात का अन्त ही है, फलो पर भी अभी वह सूर्यास्त की लाल सुनहली कान्ति नही आई, पर उस फले हुए जीवन-तरु को वह देख सकता है—"

इस उद्धरण मे ही नही पूरे पृष्ठ पर (जहाँ से यह उद्धरण लिया गया है) सूर्य, सूर्यास्त, धूप, सेब, पेड, जीवन या इनके समानार्थक शब्दो का सर्जनात्मक दोहराव है और उनके माध्यम से ही भुवन की मनः स्थिति के संश्लिष्ट आलोड़न की मकेन्द्रित दृष्टि हम तक सम्प्रेषित हो जाती है। रेखा के द्वारा एक 'धूप' शब्द के प्रयोग मे भुवन के मन मे इतनी स्मृतियो का उभर आना इस शब्द को एक रूपकात्मक गरिमा से मंडित कर देता है।

निर्मल वर्मा की "लन्दन की एक रात" कहानी से एक उद्धरण देखे:

"वह गर्मियो की एक खुली और नरम रात थी...एक विराट, बनैले जन्तु की तरह खामोश...जो दिन भर की थकान के बाद अपनी माँद मे समूची देह फैलाकर सो गया हो।"

क्या रात के इस अनुभव को किसी सपाट तरह से सम्प्रेपित किया जा सकता है। 'खुली' और 'नरम' के साथ दिनभर की थकान के बाद देह फैलाये सो रहे विराट, बनैले जन्तु की तरह की-सी खामोशी का जिक्र जिस रूपकात्मक बिम्ब को सम्प्रेपित करता है वह सामान्यतः काव्य भाषा का ही गुण है। पारम्परिक कथाभाषा मे इस तरह से संश्लिष्ट बिम्ब कम ही मिल सकते हैं जबकि आधुनिक कथा भाषा में यह सामान्य प्रवृत्ति है। इस तरह के और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं, लेकिन हमारा उद्देश्य सिर्फ यह देखना है कि किस तरह

कथाभाषा की संरचना वल्कि भाषा मात्र की संरचना अपने माध्यम से यथार्थ की सरचना निर्धारित करती है।

कथा मूलत: आख्यान है। उसके इस आख्यान तत्त्व के बिना उसका मूल चरित्र सुरक्षित नही है। दूसरे शब्दो मे यह कह सकते है कि कथा के वाचिक मूल की अनदेखी नही की जा सकती क्योकि भाषा केवल पढ़ने की वस्तु नही है वह बोलने और सुनने की भी वस्तु है और श्रवण माध्यमो के विकास के साथ उसके इस रूप की ओर पुन. ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक है। समस्या यह है कि इस पठित रूप मे वाचिक गुण कैसे समाहित किया जाय। बहुत सरल तरह से रखने की कोशिश करें तो आधुनिक कथाभाषा की यह एक प्रमुख समस्या है क्योकि वाचिक परम्परा की एक खूबी यह भी है कि काल के सभी आयामो को समेटते हुए भी वह निरन्तर वर्तमान मे रहती है। यही समस्याएँ आज की कथा का और इसलिए कथागत यथार्थ का रूप निर्धारित करती हैं।

इस विश्लेषण के आधार पर आसानी से यह आरोप लगाया जा सकता है कि यह मानवीय यथार्थ और सरोकारो से साहित्य के जुड़ाव का विरोध है। लेकिन यह आरोप बेबुनियाद और असगत होगा। अभी तो सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि भाषा मूलत. मानवीय अस्तित्व और चेतना से सलग्न है, अत: उस के द्वारा रचा गया यथार्थ माननीय चेतना और सरोकारो से अलग नही हो सकता। यथार्थ की रचना और उस की पहचान और सम्प्रेषण को एक साहित्यिक प्रक्रिया की तरह देखने पर ही मानवीय चेतना बाह्य यथार्थ का ही नही स्वय अपना भी वह साक्षात्कार कर सकती है जो अन्य तरह सम्भव ही नही है।

वत्सल निधि द्वारा आयोजित बोधगया लेखक-शिविर में पढ़ा गया आलेख

आज के लेखक की परिस्थिति

यदि साहित्य भाषा में मानवीय अनुभव के रूपाकार की पहचान है तो नवलेखन या नये साहित्य का तात्पर्य स्पष्ट ही भाषा, अनुभव प्रक्रिया और रूपाकार में हो रहे परिवर्तनों और उन से उत्पन्न होने वाली समस्याओं में से गुजरने वाला लेखन है। यहाँ यह स्पष्ट कर लेना जरूरी है कि जब हम अनुभव की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य ऐन्द्रिक सवेदन से नहीं होता। ऐन्द्रिक संवेदन अनुभव का माध्यम हो सकता है, लेकिन अनुभव वह तभी है जब उस मे मानवीय चेतना सम्पृक्त हो। लेकिन इस प्रकार के अनुभव में नवीनता या नये प्रकार की सृजनशीलता क्या है ? क्या प्रत्येक अनुभव सृजनशील होता है ? अनुभव सृजनशील तभी है जब वह मानवीय चेतना का नया संस्कार करता है–दूसरे शब्दो में कहे तो इस दुनिया को, परिवेश को, हमारे अपने मन को, कुल 'रिएलिटी' अर्थात् यथार्थ या सत्ता को इस तरह हमारे सम्मुख खोलता है कि न तो 'रिएलिटी' ही वही रहती है जो उससे पहले की और न हम वही रहते है। सृजनशील अनुभव का तात्पर्य है 'रिएलिटी' का यथार्थ या वास्तविकता का और इसलिए हमारा और उससे हमारे रिश्ते का भी पुनराविष्कार या पुनर्सृजन और इस पुनराविष्कार की प्रक्रिया का एक रूपाकार मे ढलना ही कला या साहित्य की रचना है।

इस दृष्टि से हर लेखक को एक सनातन संघर्ष मे से गुजरना होता है। यह सघर्ष है अपने अनुभव की विशिष्टता को बनाए रखते हुए उसे सम्प्रेषित करना। लेकिन यह जानना कठिनतर होता जा रहा है कि अनुभव वास्तव मे कोई अनुभव है या भ्रान्ति ही है। अनुभव की सचाई का प्रमाण क्या है ? सामान्य जीवन मे भी हम देखते हैं कि बहुत से कथित अनुभव झूठ साबित हो जाते है। पुराने लेखक के सम्मुख भी यह समस्या आती होगी। लेकिन तब धर्म जीवन के केन्द्र मे था और वह अपने अनुभव की सचाई को धर्म अर्थात् शास्त्र की कसौटी पर परख सकता था–शायद यही कारण है कि मध्यकालीन लेखक में बहुत सी बातो को लेकर निश्चयात्मकता के स्वर बहुत प्रबल

थे। वही अनुभव सच था जो धर्मसम्मत था शास्त्र सम्मत था। कभी-कभी वास्तविक धर्मभावना और शास्त्र की रूढियो के बीच संघर्ष हो सकता था, जिसके व्यावहारिक नतीजे बुरे भी हो सकते थे–लेकिन यह अभिव्यक्ति के स्वातन्त्र्य की समस्या थी। स्वयं लेखक की चेतना मे अपने अनुभव की सचाई को लेकर कोई शका नही होती थी यदि वह धार्मिक भावना की कसौटी पर खरा उतरता हो।

आज के लेखक के सम्मुख परिस्थिति बिल्कुल अलग है। उसके सम्मुख सब से अहम् सवाल ही यही है कि वह अपने अनुभव की प्रामाणिकता की जाँच कहाँ करें ? धर्म या शास्त्र की मर्यादा का एक विकल्प विज्ञान हो सकता था और बीच मे कुछ दिन ऐसा लगा भी–लेकिन वैज्ञानिक विकास की सारी प्रक्रिया यह स्पष्ट कर चुकी है कि वह न केवल अन्तिम सत्य के रूप मे किसी स्थापना को नही रख सकती बल्कि अधुनातन शोधो के निष्कर्षों के अनुसार तो 'रिएलिटी' को, यथार्थ या वास्तविकता को, उस के सही स्वरूप और प्रकृति को बिल्कुल यथावत् कहा ही नही जा सकता। राजनीति या अन्य सभी मानविकी विद्याओ और सामाजिक विज्ञानो आदि की कोशिश अधिक से अधिक विज्ञान की प्रक्रिया और निष्कर्षों को अपने पर घटाने की रहती है, अत उन से भी विज्ञान से अधिक सहायता की उम्मीद नही की जा सकती। ऐसी स्थिति मे आज के लेखक पर दोहरा दायित्व आ जाता है क्योंकि उसकी परिस्थिति पहले के लेखक की तुलना मे भिन्न है। एक तो यही कि उस के पास अपने अनुभव की विश्वसनीयता को जाँचने की कोई शत प्रतिशत खरी कसौटी नही है और अब वह स्वयं ही उस का एकमात्र निर्णायक है। लेखक के विवेक पर इतना बडा उत्तरदायित्व इससे पहले नही था। यही कारण है कि एक ओर जहाँ लेखक अपने ही अनुभव को सर्वोपरि मानने की ओर उन्मुख है-बल्कि दूसरा चारा ही नही है-वही उस अनुभव के प्रति एक निरन्तर शंका या असन्तोष का भाव ही उस मे बराबर मौजूद रहता है। अपने ही अनुभव के प्रति, उस की प्रक्रिया और निष्कर्षों के प्रति यह संशयालु, आलोचनात्मक भाव आज के लेखक की एक अनिवार्य मन स्थिति है जब तक कि उसने उकता-घबरा कर या किसी अन्य कारण से किसी न किसी अधूरी या काम चलाऊ कसौटी को स्वीकार न कर लिया हो। आज के लेखक पर बौद्धिकता या जटिलता का जो आरोप लगाया जाता है वह दरअसल इसी कारण है कि वह हमे अपने साथ बहाना नही, हमे गलदश्रु नही करता बल्कि हम में एक सजगता

पैदा करता है। बहुत से लेखक आज भी किसी धर्मशास्त्र राजनीतिक दर्शन या अन्य किसी साहित्येतर अनुशासन को स्वीकार कर लेते हैं-वे अब भी कुशल शिल्पी हो सकते है, लेकिन यह स्पष्ट जान लेना जरूरी है कि जिस हद तक हम किसी अन्य प्रमाण या कसौटी को अपने अनुभव पर तरजीह देते हैं उस हद तक हम सही अर्थों मे आधुनिक या आज के समाज के लेखक नही हो सकते—बल्कि उस हद तक हम आज के लेखक की अनिवार्य लेखकीय परिस्थिति से कतरा कर निकल रहे होते है। शायद यही कारण है कि आज का लेखक किसी पूर्व निर्धारित दर्शन या विचार को स्वीकार करने के प्रति आश्वस्त नही होता बल्कि अपनी रचनाप्रक्रिया मे से ही अपनी दृष्टि का विकास सम्भव करता है। किसी पूर्व निर्धारित दर्शन या विचारधारा को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेने का अर्थ होगा कला या सृजन को केवल कारीगरी या कौशल बना देना क्योंकि तब सत्य तो पहले से जाना हुआ है, उसे केवल इस तरह प्रस्तुत भर कर देना है कि सुन्दर लगे और सम्प्रेषित हो सके। यह विडम्बना है कि ऐसा चाहने वाले लोग ही शिल्प का सबसे अधिक विरोध करने का दिखावा करते है जबकि वे स्वयं कला की सारी प्रक्रिया को एक औपचारिक शिल्प मे परिवर्तित कर देने की कोशिश ही कर रहे होते हैं।

अपने अनुभव की अद्वितीयता को, उसकी प्रक्रिया और सचाई को अन्यान्य प्रभावों से बचाते हुए सम्प्रेषित करना लेखक का सनातन रचनात्मक संघर्ष है। आज के लेखक के लिए यह संघर्ष ओर भी मुश्किल है क्योकि साक्षरता के बढते प्रसार और मीडिया के विस्तार के कारण साहित्य की शक्ति मे वृद्धि हुई है और सत्ता के विभिन्न रूप उसकी इस शक्तिमन्ता से भली भाँति परिचित है। यही कारण है कि राज्य, राजनीतिक दल, अर्थसत्ता के विभिन्न केन्द्र और यहाँ तक कि नये 'धर्मगुरु' भी लेखक को प्रत्यक्ष-परोक्ष कई प्रकारों से प्रभावित करने की ओर योजनाबद्ध ढंग से सचेष्ट होते है। इस के लिए मानवीय भविष्य के सुनहरे सपनो के साथ-साथ प्रलोभन भय व प्रताड़ना-दमन आदि से भी साहित्यकार की रचना-प्रक्रिया को प्रभावित करने की कोशिश की जाती है। यह आवश्यक नही है कि लेखक को खरीदा या डराया ही जाय—ये तो बड़े स्थूल उपाय हैं। इन से ज्यादा कारगर मनोवैज्ञानिक उपाय हो सकते है। मध्यकाल तक लेखक व्यवस्था के लिए कोई खतरा नही हो सकता था, अतः उसे अपने लिए गहरे स्तरो पर इस्तेमाल करने या दमन करने के उदाहरण भी प्रवृत्तिगत नही है लेकिन आज साहित्य के सम्मुख यह

खतरा भी भयंकर रूप में है। और आज का लेखक इस ओर आँखें मूँद कर नहीं रह सकता। इसलिए उसका एक उत्तरदायित्व यह भी है कि वह अपने अनुभव पर किसी भी विचारधारा या प्रतिष्ठान को प्रभावी न होने दे चाहे उनके घोषित उद्देश्य कितने ही सदाशय क्यों न हों। इस सन्दर्भ में, लूकाच का यह कथन स्मरणीय है कि "वास्तविक अनुभव ही साहित्य का आधार है और संकल्प, चाहे वे कितने ही सदाशयतापूर्ण हों, उसकी जगह नहीं ले सकते।"

इसी के साथ जुड़ा हुआ सवाल भाषा का भी है। भाषा केवल साहित्यरचना का माध्यम ही नहीं है, उससे कई अन्य सार्वजनिक प्रयोजन भी पूरे होते है–यहाँ तक कि झूठ और फरेब के प्रयोजन भी। वह भाषा जो संवाद और चिन्तन-मनन के माध्यम के रूप में विकसित हुई, अब इकतरफा प्रचार और विज्ञापन का माध्यम भी हो चली है। अपनी पहली भूमिका में, अर्थात् चिन्तन-मनन और संवाद का माध्यम बनने पर वह चेतना के विकास का माध्यम बनती है, लेकिन जब उसे प्रचार या विज्ञापन के लिए इस्तेमाल किया जाता है, तो उसका प्रयोजन चेतना के विकास की बजाय उसे सम्मोहित करना हो जाता है और यह मुम्किन नहीं है कि भाषा के इस उपयोग का असर उसकी पहली-प्रवृत्ति को प्रभावित न करे। इसलिए आज के लेखक के सम्मुख एक बुनियादी दिक्कत यह भी है कि जिस भाषा का सार्वजनिक इस्तेमाल विज्ञापन, सम्मोहन और शोरगुल की तरह किया जा रहा हो उसी को सत्य की आत्मीय अभिव्यक्ति-क्योंकि साहित्य का स्वभाव मूलतः आत्मीय है – के विश्वसनीय माध्यम की तरह इस्तेमाल किया जाय। यह कोई सरल काम नहीं है। यह भी ध्यान देने की बात है कि भाषा और लेखक के बीच सम्बन्ध इकतरफा नहीं होता। भाषा ही लेखक का माध्यम नहीं होती, लेखक भी भाषा का माध्यम होता है। भाषा भी लेखक का इस्तेमाल करती है, इसलिए यह बहुत सम्भव है कि कभी लेखक भी मीडिया के माध्यम से उत्पन्न भाषा के सम्मोहन और आवेश में बह जाये। इसलिए आज के लेखक को एक चुनौती यह भी है कि उसे आज के यथार्थ से गुजरते हुए, आज की भाषा में उसकी पहचान का साक्ष्य देते हुए भाषा को चेतना के सृजनात्मक विकास या रचना का माध्यम बनाए रखने का संघर्ष भी करते रहना है–प्रचारात्मकता और सम्मोहन-शीलता से बचते हुए। इसलिए यह भाषा को इस तरह साधना है कि उसका अनुभव भी एक आरोपण की तरह नहीं बल्कि एक सम्भावना की तरह लगे।

उसका सत्य एक सम्भावना हो — जिसमे और सम्भावनाओं के दरवाजे भी खुलते हो – कोई अन्तिम 'सचाई' नही जिसमे सब हमेशा-हमेशा के लिए शरण पा लें।

लेखक का यह संघर्ष कोई सीधा और सरल सघर्ष नही है। स्वयं लेखक की चेतना पर तो जाने-अनजाने कई प्रभाव पड़ते ही है, साथ ही विज्ञापन और प्रचार मे रुचि रखने वाली शक्तियाँ भी उस पर कई प्रकार के दबाव डालती है। इस तरह के स्थानीय से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तरो तक के जाने-अनजाने भौतिक, वैचारिक और मनोवैज्ञानिक दबावो के सम्मुख अपनी आत्मसजगता को बनाए रखना आज के लेखक के सम्मुख एक कठिन चुनौती है। जो लेखक इस आत्मसजगता का, इस संघर्ष का प्रमाण देता है वही आज के सन्दर्भ मे प्रासंगिक है। प्रत्येक की अपनी दृष्टि, विचार-प्रवृत्ति, यथार्थ की उसकी समझ और अनुभूति और भाषिक – संरचना अलग और कभी-कभी विपरीत भी हो सकती है, लेकिन आज के लेखक की पहली पहचान यही हो सकती है कि उसकी रचना अपने ही अनुभव के प्रति आत्मालोचन का और रचनात्मक स्तर पर उस संघर्ष का साक्ष्य हो–जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है।

अवमानवीकरण का खतरा और कविता

इस बात को लेकर अब शायद कोई मतभेद नही है कि अवमानवीकरण बीसवी शताब्दी की केन्द्रीय सामाजिक समस्या है। आधुनिक युग मे यन्त्र, पूंजी और राज्य की सर्वग्रासी ताकतो के सम्मुख मनुष्य के असहाय और अकिंचन होते चले जाने का बोध, आत्मीय और सामाजिक रिश्तो के खोखले होते चले जाने का अहसास, संवादहीन अकेलापन और ऊब आदि के मूल मे अवमानवीकरण की प्रक्रिया ही मानी जाती रही है – यद्यपि इसके कारणो को लेकर समाजशास्त्रियो मे पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। एक वर्ग पूंजी और राज्य के द्वारा यन्त्र के मानवनिरपेक्ष उपयोग को इसका कारण मानता है तो दूसरे वर्ग के अनुसार यन्त्र के मानव निरपेक्ष नियमो से अर्थ-व्यवस्था और राज्य का निर्देशित होना अवमानवीकरण के मूल मे है। कुछ लोग इसके मूल मे आर्थिक-राजनैतिक व्यवस्था को देखते है तो कुछ अन्य विचारको की दृष्टि मे मनुष्य मे आध्यात्मिक बोध का ह्रास इसके लिये जिम्मेवार है। जाहिर है कि कारणो के विश्लेषण के आधार पर इस संकट से उबरने के लिए सुझाये गये हल भी अलग-अलग हो और उनके आधार पर विभिन्न विचार-धाराओ और आन्दोलनो का विकास भी हो। और इसीलिए यह भी सम्भव है कि बीसवी शताब्दी के समाज मे रहने वाला एक व्यक्ति होने के नाते प्रत्येक लेखक की अपनी दृष्टि हो जो इस तरह के आन्दोलनो और विचार-धाराओ मे से किसी का समर्थन और किसी का विरोध करती हो जिसका प्रतिबिम्ब उसकी रचनाओ मे भी देखा जा सकता हो। इस प्रकार बड़ी आसानी से यह बात प्रमाणित की जा सकती है कि सभी कलाओ और साहित्य मे अवमानवीकरण की समस्या को केन्द्रीय महत्व प्राप्त रहा है। अवमानवीकरण के कारणो की व्याख्या तथा उसके समाधानो पर मतैक्य न होने के बावजूद दुनिया की सभी आधुनिक भाषाओ की कविताओ मे से हजारो उद्धरण जुटाकर यह आसानी से प्रमाणित किया जा सकता है कि कविता अवमानवीकरण के खतरे के खिलाफ निरन्तर संघर्षरत है। लेकिन अवमानवीकरण के अनुभव का कविता पर केवल इतना ही असर नही पड़ा

कि उस पर अनेको कविताएँ लिखी गईं और सब मे उसके खिलाफ़ वक्तव्य दिये गये। किसी लेखक के विचारो या कविता में दिये गये वक्तव्यों के आधार पर कविता को उसकी समग्रता में नही समझा जा सकता। आन्द्रे वोज्नेसेंस्की जब यह कहते हैं कि "कविता तो देखने का, अनुभव करने का एक ढग है," तो वह प्रकारान्तर से पाल वेलेरी की इस बात का समर्थन कर रहे होते है कि लेखक का दर्शन "सोच के विषयो मे नहीं बल्कि स्वयं सोच की प्रक्रिया और उसके व्यवहार में निहित होता है।" इसलिए यदि अवमानवीकरण की प्रक्रिया द्वारा कविता के सम्मुख प्रस्तुत चुनौतियों को और उनके प्रति कविता के रुख और व्यवहार को समझना हो तो कविता में अवमानवीकरण के विरुद्ध लिखी गयी कुछ उक्तियाँ जुटा लेने से काम नही चलेगा—उस तरह की उक्तियाँ और विचार तो कविता से बाहर भी मिल सकते है—बल्कि यह देखना होगा कि अवमानवीकरण ने कविता की समग्र प्रक्रिया और सरचना पर, उसके माध्यम के स्वभाव और व्यवहार पर क्या प्रभाव डाला है और किस तरह अपनी प्रक्रिया के माध्यम से ही कविता ने अवमानवीकरण की सभी तरह की स्थितियो के विरुद्ध अपनी मानवीय स्थिति बनाये रखी है। वास्तव मे यही बिन्दु है जहाँ विभिन्न और कभी-कभी परस्पर विरोधी दृष्टि रखने वाले कवि भी एक हो जाते है क्योकि सारे मतवैभिन्य के बावजूद अपने माध्यम के प्रति व्यवहार और कविता की बनावट में वह एक ही केन्द्र की परिधि में घूम रहे जान पड़ते है। मानवीय अनुभूति पर आधारित होने के कारण कविता स्वभावत: ही अपने परिवेश और युगीन परिवेश से जुड़ जाती है - यह बात दीगर है कि युगीन सवेदना प्रत्येक रचनाकार के लिए उसके विशिष्ट अनुभव में एक विशिष्ट रूप में ढलकर व्यक्त होती हो और कुछ लोग उससे किसी एक ही विशिष्ट रूप की माग करते रहे तथा उस के पूरा न होने पर रचनाकार को ही अप्रासगिक मान लें जिस तरह पास्तरनाक और स्वेतायेवा आदि को मान लिया गया था। लेकिन कविता सम्प्रेषण भी है और संरचना भी, अत: कविता की रचनात्मक समस्याओं में रुचि रखने वाले के लिए यह विचार करना अधिक संगत है कि उसकी समग्र संरचना और उसके सम्प्रेषण की प्रक्रिया पर अवमानवीकरण की प्रक्रिया किस तरह की चुनौतियाँ प्रस्तुत करती है और कविता अपने रचे जाने की प्रक्रिया में ही उन से किस तरह जूझती है।

अवमानवीकरण की प्रक्रिया ने कविता के सम्मुख जो चुनौतियाँ प्रस्तुत की है

उनमें सर्वाधिक खतरनाक चुनौती भाषा अर्थात् कविता के माध्यम के ही अविश्वसनीय होते चले जाने की है। भाषा के अर्थहीन होने की समस्या कवि के सम्मुख बार-बार प्रस्तुत होती रही है और उसे अर्थगर्भ करने के प्रयास में कविता का मुहावरा बदलता रहा है। कभी-कभी शब्द की असमर्थता या उसकी सीमाओं की संकीर्णता का अहसास भी कवि को होता रहा है और उसे लगता रहा है कि उसका अनुभव इतना विशाल है कि शब्द की सीमाओं में उसे बाँधा नहीं जा सकता। ऐसी पीड़ा को व्यक्त करने वाली कुछ बहुत अच्छी कविताएँ भी मिल जाती हैं। लेकिन इस दफा समस्या कुछ अधिक उलझी हुई है। मुहावरे के अधिक पुनराव के कारण उसकी चमक के घिस जाने की ही बात नहीं है। इस बार असल समस्या यह है कि औद्योगिक संस्कृति और उसकी आर्थिक-राजनैतिक परिणतियाँ भाषा की संवेदनात्मक ऊष्मा को, उसकी सहज विश्वसनीयता को एक ओर तो नष्ट करती है और दूसरी ओर व्यावसायिक और प्रचारात्मक उद्देश्यों के लिए उसी संवेदनात्मक ऊष्मा का बेशर्म इस्तेमाल करती है जो प्रकारान्तर से फिर उसे नष्ट करना ही है। सामाजिक आत्मीयता और सहज विश्वास की प्रवृत्ति के क्षीण होते चले जाने का असर भाषिक व्यवहार पर यह पड़ा है कि एक दूसरे की बात सुनते और समझते हुए भी हम उस पर भरोसा नहीं कर पाते। पूँजी और राजसत्ता के प्रतिष्ठानों ने भाषा के माध्यम से छल और झूठ का जो जाल बुना है उसने भाषा मात्र पर से मनुष्य के विश्वास को क्षीण कर दिया है। वाल्मीकि रामायण में हनुमान की संस्कारी भाषा राम को उनके सज्जन होने का बोध कराती है जबकि ऐसी स्थिति में आज पहली प्रतिक्रिया शायद यही होती कि निस्सन्देह हमें छला जा रहा है। अर्थहीनता का संकट आज मुहावरे के घिस जाने तक सीमित नहीं है, यह भाषा मात्र के प्रति अविश्वसनीयता का भाव बन जाने का संकट है। यह नहीं है कि भाषा में विचार या सूचना सम्प्रेषित नहीं की जा सकती– यह काम तो शायद ज्यादा ठीक तरह से किया जा सकता है– लेकिन हमारे वास्तविक आशयों और नीयत को सम्प्रेषित करने का काम अधिक मुश्किल होता जा रहा है क्योंकि सभी तरह के सत्ता-प्रतिष्ठानों ने और मीडिया के अपने स्वभाव ने भी–उसका संवेदनात्मक रस सोख लिया है। जो भाषा और समाज प्रचार-प्रसार के आधुनिक साधनों और यन्त्र संस्कृति की जितनी गिरफ्त में है उस तक भाषा के माध्यम से संवेदनात्मक सम्प्रेषण उतना ही मुश्किल होता जा रहा है। जब जर्मन कवि एन्सेन्स ने यह कहा कि जिस जर्मन भाषा का उपयोग हिटलर और गोएबल्स जैसे लोगों ने किया है, मैं उस

भाषा में कविता नहीं लिख सकता, तो चाहे उनका तात्कालिन आशय नाजी जर्मनी में एक सर्वसत्तावादी व्यवस्था द्वारा एक बड़े पैमाने पर फरेब और झूठ गढ़ने के लिए किये गये भाषा के अमानवीय प्रयोग और उसके कारण जर्मन भाषा की संवेदनात्मक विश्वसनीयता नष्ट हो जाने से ही हो लेकिन उनके वक्तव्य में उन सभी कवियों की पीड़ा बोलती है जो विभिन्न प्रकार की सत्ताओं द्वारा विभिन्न स्तरों पर कई-कई तरीक़ों से किये जा रहे भाषा के इस संवेदनात्मक शोषण को पहचानते हैं।

लेकिन जर्मन कवियों की विवशता यह थी कि उन्हें उसी भाषा में कविता लिखनी थी, उसी भाषा में अर्थ की रचना करनी थी जिसे हिटलर और गोएबल्स ने निरर्थक बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी और यदि जर्मन कवि उस भाषा में फिर कविता कर पाये तो यह उनकी सर्जन प्रतिभा का साक्ष्य तो है ही, साथ ही इस बात का भी संकेत है कि भाषा की मानवीय सम्भावनाएँ असीम हैं। लेकिन यह समस्या सिर्फ जर्मन भाषा तक सीमित नहीं थी और न हिटलर के कारण पहली बार कवियों के सम्मुख स्पष्ट हुई थी। औद्योगिक संस्कृति के दबाव और तनाव कम से कम साहित्य में काफी पहले से महसूस किये जाने लगे थे और कवि को इस सदी के प्रारम्भ से ही इस चुनौती का अहसास होने लगा था कि उसे इस निरन्तर अविश्वसनीय होती चली जा रही भाषा में ही काव्यात्मक विश्वसनीयता अर्जित करनी है। सच तो यह है कि दुनिया की सभी आधुनिक भाषाओं में काव्य-संरचना के क्षेत्र में किये जाने वाले, प्रयोग भाषा की इस काव्यात्मक विश्वसनीयता को अर्जित करने के ही प्रयास हैं। इस विश्वसनीयता की राह में आने वाली उलझनें ही कभी कवि के द्वारा सम्प्रेषणीयता को पूर्णतः नकार देने का कारण बनती हैं तो कभी वह अजीबो-गरीब प्रयोगों द्वारा भाषा के उन सब आकारों को तोड़ने की कोशिश करता है जिनके रहते हुए उसकी कविता भाषिक रूढ़ियों से और इस कारण उनमें निहित अविश्वसनीयता से मुक्त नहीं हो पाती। इसीलिए आज का कवि भाषा की औपचारिकताओं को नष्ट करता और इस प्रक्रिया में नये काव्य-रूपों का सर्जन करता है। वह भाषा की सारी औपचारिकताओं, पुरानी शब्द-संगतियों, वाक्य-विन्यासों और लयगतियों को तोड़ता और इस प्रकार प्राप्त सामग्री में से नये प्रकार की लयगतियों और शब्द-संयोजनों की सृष्टि करता है। आधुनिक कविता पुरानी कविता से अपनी विषय-वस्तु के कारण अलग नहीं है, वह अपनी समग्र संरचना में अलग है और यह संरचना उस संघर्ष में

से रूपायित होती है जो भाषा को अर्थवान बनाने के लिए आधुनिक कवि कर रहा है। जिन देशों में अर्थ और राजशक्ति का केन्द्रीकरण और प्रसार साधनों का प्रभाव जितना अधिक बढ़ता गया है उनकी कविता में काव्य भाषा के पारम्परिक रूपों के प्रति विद्रोह भी उसी सीमा तक प्रतिफलित होता गया है। हो सकता है, वैचारिक स्तर पर विद्रोही कोई कवि पारम्परिक काव्य रूपों में ही लिखता रहे लेकिन तब उसका विद्रोह विचार के स्तर पर ही रहेगा– उसका वास्तविक काव्यात्मक प्रतिफलन तभी सम्भव है जब उसकी कविता अपनी संरचना में भी पारम्परिक काव्य-रूपों से, पारम्परिक काव्य भाषा से, विद्रोह करे। यह तो हो सकता है और हुआ भी है कि पारम्परिक काव्य-रूपों को तोड़कर उन्हीं के आधार पर नये रूपों की सर्जना कर ली जाये, लेकिन उन्हें जस का तस स्वीकार कर लेना किसी आधुनिक कवि के लिए सम्भव नहीं है। आधुनिक देशों में कविता में घटित होने वाले नित-नये आन्दोलनों के पीछे यही प्रवृत्ति काम करती है। यह आवश्यक नहीं है कि किसी आन्दोलन को समग्र रूप में स्वीकार किया जाय– नये प्रयोगों में सफलता और असफलता दोनों ही की सम्भावना बराबर रहती है। लेकिन इस तरह के आन्दोलनों को अपवाद कहकर उड़ा देने की बजाय उन्हें गम्भीरतापूर्वक समझने की जरूरत है। उनके कुछ आग्रहों में अतिवादिता हो सकती है, होती है, लेकिन अपने इन आग्रहों के कारण ही वह कुछ नयी चुनौतियों और सम्भावनाओं की ओर ध्यान आकर्षित करते और उन्हें अपनी काव्य-रचना में अर्जित करने का प्रयास करते हैं। प्रतीकवाद, डाडावाद, अभिव्यंजनावाद, अतियथार्थवाद, प्रभाववाद, बिम्बवाद आदि सब आन्दोलन, जिनका प्रभाव भारतीय काव्य-जगत पर भी दिखायी देता रहा है, वास्तव में इसी प्रकार के आन्दोलन हैं जिन्होंने पूरी दुनिया की आधुनिक कविता को प्रभावित किया है। इन आन्दोलनों की अल्पकालिकता इनकी असफलता नहीं है क्योंकि आधुनिक काव्यभाषा में उनके प्रभाव के कारण हुए परिवर्तनों को आज भी पहचाना जा सकता है। ये परिवर्तन केवल कविता के बाहरी ढांचे के परिवर्तन नहीं हैं बल्कि एक फरेबघर होते जा रहे संसार में कविता की विश्वसनीयता को पुनः अर्जित करने के रचनात्मक संघर्ष का प्रतिफलन है। इन परिवर्तनों के बिना कविता अपने पूरे अस्तित्व से आधुनिक युग के इस अवमानवीकरण के संकट से जूझने का प्रमाण नहीं देती–चाहे विचार के स्तर पर वह कितना ही विद्रोह करती रहे। यह केवल संयोग नहीं है कि सभी आधुनिक कवि कविता के पारम्परिक ढांचे को तोड़ने में एक मत रहे हैं चाहे उनकी विचारधारा एक दूसरे की विरोधी ही

क्यों न रही हो। प्रयोगवाद और नयी कविता के दौर मे बहुत से मतवैभिन्य रखने वाले कवियो का काव्य-सरचना के नये रूपों के उन्नयन में एक साथ होना इस बात का ही प्रमाण है कि भाषा की विश्वसनीयता को अर्जित करना उनकी मुख्य चुनौती थी। यह चुनौती और ज्वलन्त रूप मे सातवें और आठवें दशक मे सामने आयी जब व्यावसायिक और राजनैतिक प्रचार की वजह से भाषा के अवमूल्यन के सकट को तीव्रता से महसूस किया गया और उसे महसूस करने वाले कवियो मे परस्पर विरोधी विचारधाराओ मे आस्था रखने वाले लोग भी एक साथ थे जिन्होने अपने-अपने तरीके से अपनी काव्य-सरचना मे इस खतरे का सामना किया। आन्द्रे ब्रेताँ ने 1924 मे अतियथार्थवादी कविता की चर्चा करते हुए लिखा था कि काव्य-रूप को कुछ ऐसी मौलिक चीज लौटाई जाती है जिसमें 'मानवीय चित्त और भाषा के खोये हुए आयाम पुनराविष्कृत होते या सुरक्षित रहते है।' भाषा की खोई हुई या दमित सम्भावनाओ को अर्जित करने की यह चेष्टा अवमानवीकरण के विरूद्ध मानवीय सवेदना को, मानवीय आवेगों और अनुभवो को पुनः प्रतिष्ठित करने की चेष्टा का ही काव्यात्मक प्रतिफलन है। जाहिर है कि इस चेष्टा का कोई एक नुस्खा या रास्ता नही हो सकता क्योकि रचनात्मकता का कोई नुस्खा नही हो सकता और हर रचनाकार को अपनी यात्रा अपने रास्ते से ही तय करनी होती है।

कविता शब्द मे अनुभव के रूपाकार की पहचान है। अवमानवीकरण की प्रक्रिया ने शब्द को तो दूषित किया ही, साथ ही मानवीय अनुभव का भी अवमूल्यन किया है और इसमें यन्त्र और सत्ता की सर्वग्रासी शक्ति ही नही, वैज्ञानिकतावादी होने का दावा करने वाले वे दर्शन भी सहयोग करते रहे है जो मनुष्य और उसकी चेतना के सारे कार्य व्यापारो को जड़ प्रकृति के नियमो से सचालित मानते है। इन दर्शनो के लिए मनुष्य का अस्तित्व उसकी चेतना अपने आप में मूल्य नही है। उसका जैविक व्यवहार ही नही उसके भावनात्मक जीवन और अनुभव-जगत की प्रामाणिकता को भी प्राकृतिक विज्ञानो के निष्कर्षो के आधार पर व्याख्यायित और निर्धारित तक करने की कोशिश की जाने लगी है। व्यवहारवादी मनोविज्ञान और प्राकृतिक विज्ञानों के ज़रिये इस बात के प्रयास होने लगे हैं कि मनुष्य के व्यवहार को उसके अनजाने ही नियन्त्रित कर लिया जाय। स्वय को दूसरो से समझदार समझने वाले कुछ लोग अपनी शक्ति के आधार पर पूरी मानव

नियति को अपनी इच्छानुसार नियन्त्रित करने की कोशिश करें, यह अपने आप में सम्पूर्ण मानव जाति के अवमानवीकरण की पूर्वपीठिका है। विज्ञान की बुनियादी शर्त ही यह है कि वह किसी भी निष्कर्ष को अन्तिम सत्य की तरह नहीं स्वीकार कर सकता। इसलिए विज्ञान द्वारा प्रदत्त शक्ति का सम्पूर्ण मानव जाति को कुछ लोगों की इच्छानुसार एक साचे में ढालने के लिए प्रयोग करना स्वय विज्ञान का अमानवीय और अवैज्ञानिक उद्देश्यों के लिए किया गया प्रयोग होगा। कोई भी दर्शन– चाहे वह आध्यात्मिक हो या भौतिक–मानवीय अनुभूति का स्थानापन्न या उसकी कसौटी नहीं हो सकता। आज जब औद्योगिक सभ्यता मनुष्य के अनुभव की विशिष्टता को एक औसत अनुभव में बदलने के लिए सचेष्ट है तथा दर्शन और विचार-धाराएँ अपने उद्देश्यों के प्रति अनुकूलता को ही मनुष्य के अस्तित्व की सार्थकता की कसौटी समझती और व्यवस्थाएँ हर प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म उपाय अपना कर उसके अनुकूलन में लगी हैं तब कविता की सार्थकता इसमें है कि वह मानवीय अस्तित्व और अनुभूति को फिर केन्द्र में स्थापित करती है। अनुभव की शुद्धता पर आग्रह आज की कविता का स्वभाव है। कविता पहले भी अनुभव पर ही आधारित रही है लेकिन तब विज्ञान या विचार-धारा की कसौटी पर अनुभव के गलत हो सकने की आशकाएँ व्यक्त नहीं की गई थी, अत कविता को भी उस पर अतिरिक्त आग्रह करने की आवश्यकता नहीं थी। यह शायद मनोवैज्ञानिक पूरकता है कि सामाजिक विज्ञानों में वैज्ञानिकता और निर्वैयक्तिकता के आग्रह के बढते चले जाने के साथ-साथ कविता में अनुभूति की शुद्धता का आग्रह प्रबल होता गया है और कविता अपने आप में सत्य की तलाश की एक स्वायत्त अनुभूत्यात्मक प्रक्रिया बनती गई है और ऐसा वह मानवीय अनुभव को केन्द्र मे बनाये रख कर ही कर सकी है। एडगर एलन पो से लेकर आज तक हुए सभी काव्यान्दोलनों ने किसी न किसी रूप मे अनुभूति की शुद्धता पर आग्रह किया है और स्थूल ब्यौरों का वर्णन या कभी-कभी उनका सकेत तक भी उन्होंने अनिवार्य नहीं माना है। मैं जानता हूँ कि कुछ लोग इस तरह की कविता को वस्तु-सत्य से कटी हुई या आत्मपरक कह कर अप्रासगिक करार देना चाहेगे किन्तु उन्हे मुक्तिबोध के इस कथन को याद करना होगा कि "आधुनिक युग के आत्म-परक काव्य की एक विशेषता यह रही है कि कभी तो उसके सन्दर्भ स्पष्टतः सकेतित होते है और कभी वे काव्य में व्यक्त भाव या भावना के भीतर से दीपित और ज्योतित हो उठते हैं। अतएव काव्य-भावना के आन्तरिक

वास्तविक सन्दर्भों को भूलने से या उनको गलत ढग से लेने से काम नही चलेगा।"

अनुभूति की शुद्धता पर आग्रह ही आज के कवि को मतवादी होने से रोकता है। आज जिस जटिल परिस्थिति में मनुष्य रह रहा है उसमें किसी भी चीज के बारे में कोई मत अन्तिम तौर पर कायम नही किया जा सकता। कवि की अनुभूति में वाह्य जगत और अन्तर्मन की कई गुत्थियाँ एक साथ झलकती हैं और अपने ही अनुभव के प्रति एक द्वन्द्वात्मक भाव उसमें पैदा हो जाता है। सच पूछें तो कविता से बाहर भी उसके लिए कोई रास्ता नही है जहाँ से वह चाहे भी तो कोई कसौटी प्राप्त कर सके क्योकि अब तो विज्ञान भी वास्तविकता को उसके सही स्वरूप में जान सकने का दावा छोड़ चुका है। प्रत्येक अनुभूति इसीलिए कविमन में दुविधा और अनिश्चय से ग्रस्त हो जाती है और यह दुविधा अनिश्चय या सशय उसके बिम्बों मे, उसकी कविता की पूरी बनावट मे घुल जाता है। लेकिन यह दुविधा यह संशय उस मतवादिता से अधिक मानवीय और लोकतान्त्रिक है जो अपने से इतर अनुभव के प्रति असहिष्णु हो जाये। आज की कविता की भाषा यदि अस्पष्ट, जटिल या कभी-कभी विरोधाभासपूर्ण लगती है तो यह उसके सत्य के अधिक नजदीक होने का ही नही, मानवीय होने का भी प्रमाण है। आत्म-प्रदर्शन और विद्रोह की चालू भगिमाओं और अतिव्याप्ति से परिपूर्ण सरलीकृत वक्तव्यो के दमघोटू माहौल के बीच अमूर्त शक्तियों और युक्तिसत्यो पर आधारित अमानवीय व्यवस्था के बरअक्स आज की श्रेष्ठ कविता मनुष्य के अस्तित्व को, उसके त्रास और सुख को, उसकी आकांक्षाओं और आशंकाओ को, उसके साहस और उसकी भीरूता को, तथा उसके छोटे-छोटे आत्मीय प्रसंगो के अनुभवो को पुनर्स्थापित करती है। इसलिए आज कविता पहले से अधिक प्रासगिक और सार्थक है।

राज॰ साहित्य अकादमी द्वारा सिरोही मे आयोजित लेखक सम्मेलन मे पढ़ा गया आलेख

परिवेश की चुनौतियाँ और आलोचना

विषय इतना व्यापक है कि एक छोटे पत्र मे इसके सभी पहलुओं और आयामों को समेटना सम्भव नही है–कम से कम मेरे लिए तो निश्चय ही नही। इस-लिए कुछ भी कहने के पूर्व यह स्वीकार कर लेना सही होगा कि मैं जो कुछ कह सकूंगा वह विषय का एक अंश मात्र ही होगा और उससे इतर और बहुत कुछ बच रहेगा जो निश्चय ही महत्वपूर्ण और विचारणीय होगा। समय के अभाव और अपने सामर्थ्य की सीमा को देखते हुए आज के परिवेश की सभी सामाजिक, सांस्कृतिक समस्यायों पर चर्चा करने की बजाय मैं अपने को उन्ही साहित्यिक समस्याओ पर केन्द्रित करने की कोशिश करूँगा जिनका सम्बन्ध मुख्यतया आज के परिवेश से है।

साहित्य-रचना एक निश्चित परिवेश मे होती है – वह परिवेश प्राकृतिक भी होता है तथा सामाजिक, सांस्कृतिक और भाविक भी। इसलिए साहित्य बल्कि कला मात्र से यह अपेक्षा की जाती रही है कि उसमे अपने परिवेश का बिम्ब या गूँज मिलनी चाहिए। परिवेश निरन्तर गतिशील है, अतः यह भी चाहा जाता रहा है कि उसके बदलते रूपों की पहचान भी साहित्य मे निरन्तर प्रतिबिम्बित होती रहे। अपने परिवेश की केन्द्रीय प्रवृत्ति और समस्याएँ क्या है और उनके समाधान की सही दिशा कौनसी है, इसे लेकर तो विभिन्न साहित्यकारों मे फिर भी मतभेद हो सकते है – और निश्चय ही इस सम्बन्ध मे किसी एक सर्वसम्मत समाधान तक पहुँचना फिलहाल सम्भव नही हो सका है। लेकिन परिवेश का प्रभाव साहित्य पर पड़ता है इसलिए लेखक को उसके विभिन्न पक्षों और उन के द्वारा प्रस्तुत चुनौतियो की ठीक पहचान होनी चाहिए, इसे लेकर कोई विवाद नही है – कम से कम हिन्दी मे तो फिलहाल नही है। एक वर्ग है जो यह मानता है कि रचना अनिवार्यतया अपने परिवेश की ही उपज होती है यानी परिवेश से हटकर रचना सम्भव ही नही है – तब यह सवाल भी पूछा जाना चाहिए कि फिर परिवेश से जुड़ने पर अतिरिक्त आग्रह क्यो? जब हम पहले से ही यह मानते है कि रचना परिवेश से ही सम्भव हो पा रही है तो उससे जुडी तो वह है ही। इसके मानी यही

हुए कि हम यह मानते हैं कि परिवेश की पहचान, बोध या अनुभव के विभिन्न रूप और स्तर हैं। साहित्य क्योंकि अनुभूति पर आधारित है, अत: यह कहना बहुत मुश्किल है कि एक विशेष प्रकार की अनुभूति अधिक प्रासंगिक या प्रामाणिक है और अन्य सभी रूप छद्म है। इस तरह का कोई भी आग्रह और लेखक के अनुभव जगत को एक निश्चित दिशा की ओर मोडने या निश्चित परिधि तक ही सीमित रखने की कोई भी मनोवृत्ति अन्ततः साहित्य मे भी एक प्रकार की फासिस्ट प्रवृत्ति को पैदा करती है – चाहे उसका उद्देश्य यह न भी रहे। रचना मे उक्त अनुभूति के खरेपन की कसौटी रचना से बाहर नही मिल सकती और यदि हो भी तो यह सवाल भी निरन्तर बना रहेगा कि वह वस्तुत: साहित्यिक कसौटी है भी कि नही।

लेकिन तब आधुनिक काल मे परिवेश और साहित्य के सम्बन्धो का सवाल क्यो एकाएक अधिक महत्वपूर्ण हो गया और लेखक और आलोचक सभी उस पर विचार करने के लिए क्यो विवश हैं – बल्कि प्रत्येक जेनुइन लेखक को इससे सम्बन्धित सवालो से क्यो टकराना पड़ता है? मध्य-काल तक भी लेखक परिवेश से प्रभावित तो होता ही था और उसके साहित्य मे उसकी पहचान भी दिख जाती थी लेकिन न तो वह इस ओर सजग होता था और न आलोचना या रचना के मूल्यांकन में इस बात को लेकर विशेष चिन्ता की जाती थी कि कोई भी कृति किस हद तक अपने काल मे प्रासगिक है या रही होगी। ये सभी सवाल आधुनिक काल के प्रारम्भ के बाद ही क्यो अधिक महत्वपूर्ण होने लगे? क्या इसका तात्पर्य यह है कि आधुनिक काल मे परिवेश मे हो रहे बदलाव ने कुछ ऐसी चुनौतियां स्वयं साहित्य के सम्मुख प्रस्तुत कर दी है जो पहले नही थी – कम से कम चुनौती के रूप में नही थी और उनका असर साहित्य-रचना और सम्प्रेषण-प्रक्रिया पर पडा है और इसलिए आलोचना का भी यह दायित्व हो जाता है कि वह इन प्रभावो को पहचानते हुए रचना की सार्थकता को उजागर करे। आधुनिक काल के प्रारम्भ से - चाहे उसकी शुरूआत हम पुनर्जागरण काल से मानें या औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भिक दिनो से – लेकर आज तक हमारे परिवेश मे जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है वह है यान्त्रिकी या प्रौद्योगिकी का विकास जिसने समग्र आधुनिक जीवन को गहराई से प्रभावित किया है। इस प्रौद्योगिकी ने ही औद्योगीकरण को जन्म दिया जिसने न केवल पारम्परिक सामाजिक संस्थाओं को प्रभावित किया बल्कि आगे आने वाले आर्थिक-

सामाजिक और राजनैतिक प्रवृत्तियों, आन्दोलनों और मानवीय चेतना पर पड़ने वाले उनके प्रभावों की जड में भी वही रहा है।

यह उल्लेखनीय है कि इस प्रौद्योगिकी के विकास के साथ-साथ मानवीय बिरादरी जितनी विस्तृत होती गई है मनुष्य का अपने निकट परिवेश से रागात्मक रिश्ता उतना ही कम होता गया है– बल्कि यों कह सकते हैं कि मनुष्य जितना अन्तर्राष्ट्रीय होता गया है उतना ही अकेला भी। यह आश्चर्य-जनक है कि एक ओर वह अपने को सम्पूर्ण मानवीय जीवन और इतिहास से जुडा हुआ पाता है तो दूसरी ओर निजी स्तर पर नितान्त अकेला असहाय, अजनबी और असुरक्षित। साहित्य मे इन दोनो ही प्रकार की अनुभूतियो की अभिव्यक्ति होती रही है– लेकिन फिलहाल मैं जिस बात की ओर संकेत करना चाहता हूँ वह यह है कि जुडे होने के साथ-साथ इस अकेलेपन या अज-नबीपन के बोध ने एक नयी प्रकार की सम्प्रेषण परिस्थिति को जन्म दिया है। साहित्य अनिवार्यत. सम्प्रेषण भी है अत. यह आवश्यक है कि इस अकेले आदमी के साथ एक सम्प्रेषण, एक संवाद कायम किया जाय। यह कैसे हो? यह आकस्मिक नही है कि इस अकेलेपन के तीव्र बोध के साथ-साथ सम्प्रेषण की समस्या भी आधुनिक साहित्य मे निरन्तर बहस का मुद्दा बनी रही है और अपने अकेलेपन के घेरे मे बन्द व्यक्ति तक एक दूसरे अकेलेपन को तोड-कर न पहुँच पाने या इस प्रक्रिया मे उठ रही समस्याओं का कोई समाधान न निकाल पाने के कारण बहुत से रचनाकार ऐसे भी हुए है जिन्होंने मानो उकता कर सम्प्रेषण को कला या रचना का कोई अनिवार्य धर्म मानने से इनकार कर दिया है। आलोचना से रचना के मूल्यांकन की आशा तो पहले भी की जाती रही है लेकिन आधुनिक काल मे यदि मूल्यांकन की बजाय रचना के विश्लेषण, उसकी प्रासंगिकता की पहचान या रचना की समझ विकसित करने की माग अधिक की जाती है तो उसका एक कारण यह भी है कि आलोचना से अब यह अपेक्षा की जाने लगी है कि वह रचना के सम्प्रेषण की भूमिका तैयार करने का दायित्व भी निभाये – बल्कि यह दायित्व भी दोहरा है क्योंकि एक ओर उसे रचना को पाठक तक पहुँचाने मे पुल का काम करना है और दूसरी ओर सम्प्रेषण के ही सरलीकृत फार्मूलों के खतरों और उनके कारण हो रही अनुभूति की विकृति के खिलाफ चेतावनी भी देते रहना है। यह स्थिति चाहे दुखद हो पर सत्य है कि आज रचना के अधिकतर पाठक या तो रचनाकार है या आलोचक और रचनकारों के मन मे एक दबी आकाक्षा यह भी रहती है कि उन्हे कोई एक भी ठीक आलोचक मिल जाये–

बल्कि कई बार तो स्वय रचनाकार ही प्रकारान्तर से अपने आलोचक का काम करने लग जाते हैं – याने दूसरे बहानो से वे अपनी ही रचना की प्रासगिकता, औचित्य या सार्थकता की ओर अप्रत्यक्ष सकेत करते रहते है। यह नही मान लेना चाहिए कि इसके पीछे सिर्फ यश की महत्त्वाकाक्षा है क्योकि लोकप्रियता जैसी चीज तो किसी भी आधुनिक लेखक के लिए फिर भी दूर रहती है – लेकिन अपने को दूसरे द्वारा ठीक तरह से समझे जाने यानी अपने सम्प्रेषित हो पाने का मानसिक सन्तोष भी तो उसके बिना सम्भव नही है – यह सन्तोष एक रचनात्मक आवश्यकता है। यही कारण है कि आधुनिक काल मे आलोचना भी साहित्य के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण मानी जाने लगी है। हिन्दी साहित्य का पिछले कुछ वर्षों का इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि कुछ कवियों के महत्व को तभी स्वीकार किया गया और उनका आगामी पीढी पर गहरा असर भी तभी पड़ सका जब किसी महत्वपूर्ण आलोचक ने साहित्य जगत का ध्यान उसकी ओर आकर्षित किया। इस प्रकार आलोचना केवल सहायक विधा नही रही बल्कि साहित्य के विकास मे एक मुख्य और सक्रिय उपकरण हो गई – यद्यपि यह फिर भी बहस का विषय हो सकता है कि हिन्दी मे आलोचना ने अपने इस नए दायित्व का निर्वाह पूरे उत्तरदायित्व की भावना से किया या नही ?

आधुनिक प्रौद्योगिकी की एक देन आधुनिक सचार और प्रसार माध्यम है यानि अखबार और रेडियो, दूरदर्शन, फिल्म आदि जिन्हे हम 'मीडिया" के नाम से जानते हैं। आधुनिक समाजो मे मीडिया सम्प्रेषण का एक सशक्त माध्यम है और इसने भी सम्प्रेषण के लिए नये प्रकार की मनोवैज्ञानिक परिस्थिति पैदा की है। सम्प्रेषण का माध्यम होने के साथ मीडिया एक उद्योग और व्यवसाय भी है, अत: तकनीकी विवशताओ के साथ-साथ उद्योग व्यवसाय की शर्तों का असर भी उसकी पूरी अर्थ-प्रणाली पर पडता है। उसका पूरा प्रयास अकेले व्यक्ति को सम्मोहित करना है – चाहे उसका उद्देश्य राजनैतिक हो या व्यावसायिक – यानि वह चेतना पैदा नही करता बल्कि उसे सुला देता या एक विशेष दिशा की ओर मोड़ने की जाने-अनजाने मे कोशिश करता ही है और इस कारण भाषा और अन्य कला-उपकरण कितने भ्रष्ट और अपने बुनियादी प्रयोजन की पूर्ति में कितने कम प्रभावशाली होते जाते हैं, इसकी चिन्ता नही करता। दरअसल मीडिया न केवल झूठ को बल्कि सत्य को भी इतना चीख-चिल्लाकर कहता है कि उसका ग्रहीता धीरे-धीरे धीमी और अन्तरंग आवाज सुनने का भी अभ्यस्त नही रह जाता। कभी इस पर भी शोध

की जानी चाहिए कि साहित्य के सम्प्रेषण पर ही नही पूरी सम्प्रेषण-प्रक्रिया और शिक्षा-प्रणाली पर भी मीडिया के इस चीखते स्वभाव का क्या प्रभाव पड़ रहा है। ऐसे भी लेखक मिल सकते हैं जिनके साहित्य पर इस चीख और आवेश का असर देखा जा सकता है। लेकिन मूलतः साहित्य का स्वभाव अन्तरंग बातचीत का स्वभाव है – यदि वह कभी चीख होता भी है तो एक दबी हुई, घुटी हुई चीख। "कला या कविता में हम तेज गति से भागी जा रही जिन्दगी को भी एक ठहरे हुए क्षण में देखते हैं – तभी उसकी गति की भी सही पहचान सम्भव है।" इसलिए जहाँ इस नयी सम्प्रेषण-परिस्थिति ने साहित्य के सम्मुख यह समस्या उत्पन्न की कि वह तेज गति से भागी जा रही चीखती जिन्दगी को एक ठहरे हुए क्षण की तरह उस पाठक तक अन्तरग स्वरो में सम्प्रेषित करे जिसके कान के पर्दे एक निरन्तर चीख भरे माहौल में फट रहे हैं, वही आलोचना पर भी यह दायित्व आया कि वह गति और आवेश के इस माहौल मे अन्तरग स्वरो और अन्तर्ध्वनियो की पहचान बराबर बनाये रखे।

यहाँ यह उल्लेख भी अप्रासगिक नही होगा कि साहित्यिक प्रवृत्तियो और आन्दोलनो की भी एक अपनी चीख और आवेश होते हैं जिनकी गूँज मे ऐसी बहुत सी कृतियाँ और रचनाकार अनसुने रह जाते हैं जो उन साहित्यान्दोलनो की चीख से अलग अपनी मृदु किन्तु निजी आवाज रखते है। यह दुर्भाग्य है कि अधिकाशत ऐसे रचनाकारो को लम्बे समय तक उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है। क्या इसका मतलब यह नही होता कि आलोचना भी इस आवेश का शिकार हो रही है और अपने दायित्व का निर्वाह ठीक तरह से नही कर पाती। यह बिन्दु अलग से पूरे विचार की माँग करता है कि क्या हमारी भाषा मे आलोचना इस कमजोरी से मुक्त रही है? क्या आधुनिक बल्कि समकालीन युग मे भी बहुत सी रचनाओ और रचनाकारो को लम्बे समय तक उपेक्षित नही रहना पडा है? यह केवल सयोग नही है कि हिन्दी मे आलोचना अधिकाशत कृतिनिष्ठ होने की बजाय प्रवृत्तिपरक होती जा रही है यानि किसी भी कृति को तभी स्वीकार किया जाता है जब वह किसी सामान्य वर्गीकरण के अन्तर्गत आती हो तथा उसकी अपनी विशिष्टता की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। इससे क्या यह नही ध्वनित होता कि अपने सम्मुख प्रस्तुत चुनौतियो का रचनात्मक मुकाबला करने की बजाय आलोचना स्वय ही उन का शिकार होती जा रही है?

नये सामाजिक परिवेश मे प्रसार-साधनो की शक्तिमत्ता, बहुलता, और बढती

हुई साक्षरता ने भी साहित्य के सम्मुख नयी प्रकार की कुछ समस्याएँ पैदा की हैं। साहित्य के विस्तार की सम्भावनाएँ अब केवल कुछ लोगो तक सीमित न रहकर हर व्यक्ति की पहुँच के भीतर हैं। निश्चय ही इस से साहित्य की शक्ति भी बढी है और इस बढी हुई शक्ति को सत्ता के सभी रूपो और केन्द्रो ने ठीक तरह से समझा भी है। अत: स्वाभाविक है कि स्थापित सत्ता और उस पर अधिकार करने की आकाक्षा रखने वाले सभी लोग साहित्य की शक्ति के इस विस्तार को समझते हुए उसे अपने अधिकाधिक अनुकूल करने या कम से कम उसे अपने प्रतिकूल न रहने देने की नीयत रखने लगे हैं। इसके लिए प्रलोभन, भय, प्रताड़ना और कभी-कभी मानवीय भविष्य के छद्म बहाने से भी साहित्यकार की स्वतन्त्रता और साहित्य की स्वायत्तता को खंडित करने की कोशिश की जाती रही है। यह आकस्मिक नही हैं कि पश्चिमी देशों मे बहुत से लेखकों के लिए साहित्य एक व्यवसाय या कॅरियर होता जा रहा है और बड़े प्रकाशन-गृहो या मीडिया द्वारा विज्ञापन और पुरस्कारो आदि के माध्यम से लेखको को भी उठाया गिराया जाता रहा है। दूसरी ओर यही कार्य राज्य या राजनैतिक दलो और उनसे सम्बन्धित साहित्यिक कही जाने वाली सस्थाएँ करती रही है। एक समय मे जो लेखक अपने लेखन के कारण यातनापूर्ण कारागार मे रख दिया जाता है, वही कुछ अर्से बाद सत्ता के नेतृत्व या मिजाज मे बदलाव के कारण सत्य का प्रवक्ता मान लिया जाता है और उस में यत्किंचित परिवर्तन के साथ ही पुनः देशविरोधी घोषित कर दिया जाता है। मध्यकाल तक लेखक राज्य के लिए इतना बड़ा खतरा नही हो सकता था अतः उसे अपने लिए इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति या उसकी स्वतन्त्रता का दमन करने की कोशिश के उदाहरण भी विरल है, लेकिन आधुनिक काल मे मिली नई शक्ति ने साहित्य के सम्मुख यह खतरा भी भयंकर रूप में प्रस्तुत किया है।

लेकिन इसके साथ ही यह भी दृष्टव्य है कि कई बार सत्ता के प्रलोभन या आतक की बजाय सिद्धान्त या विचारधारा या मतवाद के प्रति समर्पण भी साहित्य की स्वायत्तता को खडित और उसे उस के मूल धर्म से च्युत कर सकता है। साहित्य का मुख्य आधारकेन्द्र मानवीय अनुभूति है, सिद्धान्त या विचारधारा नही। सिद्धान्त या धारणा मूलतः युक्तिसत्य होती है जबकि अनुभूति मूर्त या जीवन्त और प्रत्यक्ष सत्य। यह अद्‌भुत है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म दार्शनिक धारणाओं और आध्यात्मिक-अलौकिक कही जाने वाली अनुभूतियों की पहचान भी साहित्य मे लौकिक, मूर्त और जीवन्त मानवीय अनुभव के रूप में होती है—

तभी वह साहित्य है। अतः कोई भी विचारधारा–चाहे वह आध्यात्मिक हो या भौतिकवादी–साहित्य की रचना, परख और मूल्यांकन की कसौटी नही हो सकती। वह साहित्य के विश्लेषण और समझ मे एक सीमा तक हमारी सहायता कर सकती है, लेकिन उसकी श्रेष्ठता या प्रासगिकता के एक मात्र प्रतिमान के रूप मे स्वीकार नही की जा सकती। यदि ऐसा होता है तो यही मानना होगा कि विचारधारा या सगठन चाहे वह राज्य हो या कोई राजनैतिक दल या कोई साम्प्रदायिक सस्था, साहित्य की ही नहीं मानव मात्र की स्वाधीनता के लिए दमनकारी है। इस सन्दर्भ मे लूकाच का यह कथन स्मरणीय है कि वास्तविक अनुभव ही साहित्य का आधार है और सकल्प, चाहे वे कितने ही सदाशयता-पूर्ण हो, उस की जगह नही ले सकते।

यही कारण है कि साहित्य बल्कि प्रत्येक जेनुइन कलाकर्म आधुनिक युग में सिर्फ़ मानवीय अनुभूतियो की ही अभिव्यक्ति नही है बल्कि ऐसा करता हुआ वह प्रकारान्तर से मानवीय स्वाधीनता के लिए भी एक प्रकार का सघर्ष कर रहा होता है। इसलिए आलोचना के लिए यही करणीय हो जाता है कि वह स्व-तन्त्रता के इस संघर्ष में रचना के साथ कधा मिलाकर हर मोर्चे पर लड़े। लेकिन दुर्भाग्य से अधिकाशतः यह देखा गया है कि आलोचना न केवल रचना से पहले घुटने टेक देती है बल्कि विरोधी पक्ष के साथ मिलकर रचना को आहत करने मे सक्रिय भूमिका अदा करने लग जाती है। आधुनिक परिवेश मे आलो-चना का सबसे बडा दायित्व ही यही है कि वह जहाँ रचना की प्रासगिकता को रचना के अपने अनुभव-लोक के प्रकाश में उजागर करे वही निरन्तर यह चेतावनी भी देती चले कि रचनाकार कहाँ और किस-किस तरह लोकप्रियता, व्यावसायिकता, मीडिया, सत्ता या मतवाद के सम्मुख पराजित हो रहा है और किस तरह वह इन सारी विपरीत परिस्थितियों मे भी रचनाकर्म की सार्थकता और स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने की जद्दोजहद मे है।

मै जानता हूँ कि मेरे ये विचार निर्विवाद नहीं है और सही तो यह है कि मै यह दावा भी नही कर सकता कि मै स्वय अपने आलोचना कर्म मे भी इन दायित्वो का ठीक तरह से निर्वाह कर पाया हूँ। यह भी नही कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसके प्रति इतना आश्वस्त हूँ कि किसी दूसरे पक्ष की ओर देखने की आवश्यकता भी नही समझता। लेकिन इस पत्र से आपकी विचारप्रक्रिया किंचित् भी उत्तेजित हुई तो निश्चय ही आपके विचार मेरी समस्या को मेरे

ही सम्मुख अधिक स्पष्ट रूप से रखने में सहायक होंगे और तब आप जैसे विद्वानों के सम्मुख की गई मेरी यह धृष्टता भी मेरे लिए तो लाभकारी ही होगी।

राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा उदयपुर में आयोजित लेखक-सम्मेलन में पढ़ा गया पत्र

समकालीन सम्प्रेषण और रंगमंच

प्रत्येक कला स्वभावत. सत्य की खोज और उस की अभिव्यक्ति है, अतः स्वाभाविक ही वह सम्प्रेषणधर्मी भी है। इसलिए अपनी अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण के लिए वह अपने स्वभाव के अनुरूप उपकरणों का उपयोग करती है–जिस का एक अर्थ यह भी हुआ कि प्रत्येक कलाविधा जिन उपकरणों के माध्यम से रची जाती, अभिव्यक्त और सम्प्रेषित होती है वे बहुत हद तक उस कला-विशेष के स्वभाव और प्रभाव के निर्धारक तत्त्व हो जाते हैं । अतः सम्बन्धित माध्यम और उपकरणों मे होने वाले परिवर्तन अपने से सम्बन्धित कलाविधा के स्वरूप और सम्प्रेषण मे भी कुछ परिवर्तन घटित करते हैं। दूसरे शब्दों मे, सम्प्रेषण परिस्थिति मे परिवर्तन के साथ सम्बन्धित कला के स्वरूप और सम्प्रेषण मे भी परिवर्तन होता है। कलामात्र का केन्द्रीय तत्त्व अनुभूति है और उस की पहचान भी कला-माध्यम के स्वरूप से प्रभावित होती है । अतः इन उपकरणों या माध्यम का स्वरूप और उस मे घटित हो रहे परिवर्तन अनुभव के प्रति हमारी दृष्टि मे कुछ जोडते है।

विभिन्न सम्प्रेषण माध्यमों मे जो परिवर्तन हमारे काल मे हुए हैं उन्होंने काफी हद तक अपने से सम्बन्धित कलाओ को प्रभावित किया है । छापाखाने ने भाषिक माध्यम वाली कलाओ, रेडियो और ग्रामोफोन ने सगीत तथा फिल्म और टी वी ने दृश्य कलाओ मे जो परिवर्तन किये है वे इतने स्पष्ट हैं कि उन की अलग-अलग चर्चा करने की कोई आवश्यकता शायद नही है। इन बदलती हुई सम्प्रेषण परिस्थितियों के सन्दर्भ में रगमच की स्थिति पर विचार करने से पूर्व मैं यह स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि रंगमच एक प्रकार का "टीम वर्क" है और उस पर सभी पक्षों की दृष्टि से विचार होना चाहिए। लेकिन इस विधा से मेरा जुड़ाव मुख्यत एक लेखक के रूप में रहा है, अतः मै जो कुछ कहूँगा उस की सीमा भी काफी स्पष्ट है।

सम्प्रेषण की समकालीन परिस्थितियों ने सभी कलाविधाओ पर उन की स्वभावगत विशेषताओ की सीमा मे कई प्रकार के प्रभाव डाले है, लेकिन एक

सामान्य प्रभाव सभी पर एक-सा पड़ा है और उसे हम न केवल समग्र समकालीन सम्प्रेषण की एक सामान्य प्रवृति के रूप मे पहचान सकते हैं बल्कि उसी के परिप्रेक्ष्य मे रंगमंच की एक ऐसी विशिष्ट प्रवृत्ति को रेखांकित कर सकते हैं जो उसे अलग से एक और सार्थकता देती है। मैं समकालीन सम्प्रेषण की जिस सामान्य प्रवृत्ति की ओर संकेत करना चाहता हूँ वह है सजीव मानवीय उपस्थिति का अभाव। आधुनिक परिस्थितियो से पूर्व सम्प्रेषण दो सजीव उपस्थितियों मे घटित होने वाली प्रक्रिया था लेकिन अब वह एक निर्जीव वस्तु और एक सजीव के बीच घटित होने वाली प्रक्रिया है। छपा हुआ शब्द और रिकार्ड की हुई ध्वनि सजीव मानवीय उपस्थिति का प्रभाव नही उत्पन्न कर सकती। यह तो शायद नही कह सकते कि सिर्फ इसी के कारण लेकिन इस परिवर्तन के कारण भी एक सहज मानवीय प्रक्रिया का काफी हद तक यन्त्रीकरण हुआ है जिस ने उस हद तक इस प्रक्रिया का विमानवीकरण भी किया है क्योकि उस मे एक तरफ की मानवीय उपस्थिति का स्थान एक यन्त्र ने ले लिया है। ऐसी परिस्थिति मे यह सम्भव नही हो सकता था कि दूसरे पक्ष की ग्रहणप्रक्रिया पर इस का कोई असर होता ही नही। कही ऐसा तो नही है कि कला इसलिए जीवन के भाव को सस्कारित करने की प्रक्रिया न रह कर धीरे-धीरे ड्राइंगरूम या अजायबघर की चीज होती जा रही है। मुझे तो यह भी लगता है कि सम्प्रेषण के यन्त्रीकृत होते चले जाने की प्रक्रिया ने काफी हद तक सम्प्रेष्य वस्तु को भी प्रभावित किया है। इस प्रक्रिया के सम्मुख समर्पण कर देने वाले लेखक-वर्ग मे एक अनात्मीय वस्तुपरकता और एक ठंडी तटस्थ मुद्रा का आग्रह प्रबल होता गया है जब कि मानवीय उपस्थिति की अनिवार्यता को महसूस करने वाले लेखको की रचनाओ मे आन्तरिकीकरण की प्रवृत्ति और आत्मीय स्वरो की ललक अधिक दिखायी देती है जो अन्य कारणो के अलावा कुछ हद तक प्रकारान्तर से सजीव मानवीय उपस्थिति के अभाव की क्षतिपूर्ति की कोशिश का मनोवैज्ञानिक प्रतिफलन लगती है।

इन परिस्थितियों मे रंगमंच की विशिष्टता और सार्थकता पूरी उजागर हो जाती है। रंगमंच को परिभाषित करने के प्रयत्नो मे अक्सर कहा जाता रहा है कि यह सभी कला-प्रकारों का एक समन्वय है, लेकिन सभी कलाओ की बदलती हुई सम्प्रेषण-प्रक्रिया के बावजूद रगमंच की बुनियादी प्रक्रिया मे परिवर्तन न होना इस बात की ओर संकेत करता है कि सभी कला माध्यमो का अपने उपकरणों के रूप मे इस्तेमाल कर सकने का सामर्थ्य रखने के बावजूद वह उन

सब से अलग एक विशिष्ट कला माध्यम है जिस का केन्द्रीय आधार सजीव मानवीय उपस्थिति है—बल्कि सक्रिय मानवीय उपस्थिति। रंगमंच का बुनियादी माध्यम मानव स्वयं है। इससे कहीं यह भी ध्वनित होता है कि मानव स्वयं एक माध्यम हो सकता है। इस बात को दृष्टि में रख कर विचार करें तो कई और बातें झिलमिलाती हैं पर उन पर ज्यादा चर्चा फिलहाल मूल बात से हट जाना होगा। लेकिन जब इतना तय हो जाता है कि सक्रिय मानवीय उपस्थिति के बिना रंगमंच ही सम्भव नहीं है और इस लिए सम्प्रेषण की बदली हुई परिस्थितियों में अन्य कलाओं में जहाँ सम्प्रेषण प्रक्रिया में — और इसलिए सम्प्रेष्य वस्तु पर भी—यान्त्रिकता का बुनियादी असर पड़ा; वहाँ रंगमंच आधुनिक तकनीकी उपकरणों का इस्तेमाल करते हुए भी मूलतः एक मानवीय माध्यम के रूप में अपने को बचाने में समर्थ रहा, और इसलिए यह भी स्वाभाविक लगता है कि बहुआयामी विमानवीकरण और यन्त्रीकरण के विरुद्ध मानवीय संघर्ष के स्वरों का प्रभाव समकालीन नाटकों की एक प्रमुख थीम रहा।

साथ ही यह कहना भी प्रसंगान्तर नहीं होगा कि सम्प्रेषण प्रक्रिया में यन्त्र के बढ़ते हुए प्रभाव ने रंगमंच पर भी एक ऐसी शैली के विकास को प्रेरणा दी जिस में मानव शरीर को भी यन्त्रवत् इस्तेमाल करना है। 'फिजीकल थिएटर' में यान्त्रिकता के इस बढ़ते हुए मनोवैज्ञानिक दबाव का कुछ हद तक रंगमंचीय प्रतिफलन देखा जा सकता है। लेकिन जिस तरह ध्वनि, प्रकाश और रंगसज्जा की सारी आधुनिक तकनीक मानवीय उपस्थिति को नहीं मिटा सकी, वैसे ही 'फिजीकल थिएटर' की यान्त्रिक शैली भी सजीव और सक्रिय मानव के माध्यम से ही अपने को प्रेषित कर सकी। नाटक या रंगमंच आज भी अपनी सारी साजसज्जा और अन्यान्य उपकरणों को हटा कर केवल मानवीय उपस्थिति के माध्यम से सम्प्रेषण कर सकता है।

इस दृष्टि से देखें तो समकालीन सम्प्रेषण परिदृश्य में रंगमंच का महत्व और सार्थकता न केवल अलग से रेखांकित होते हैं बल्कि एक और बुनियादी बात की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है कि निरन्तर बढ़ती हुई यन्त्रीकृत और विमानवीकृत सम्प्रेषण व्यवस्था के सम्मुख रंगमंच सही अर्थों में एक समान्तर सम्प्रेषण प्रक्रिया है। यही एक ऐसी सम्प्रेषण प्रक्रिया है जो ग्राहक पक्ष को सीधी प्रभावित करती और उस से सीधी प्रभावित होती है और इसलिए एक नाटक की हर प्रस्तुति एक कलाकृति है जो नाटक के प्रदर्शन के साथ ही समाप्त

हो जाती है। उस का अस्तित्व तभी तक है जब तक दोनो पक्ष आमने-सामने हैं।

समकालीन परिस्थिति मे रंगमंच की यह विशिष्ट सम्प्रेषण प्रक्रिया कुछ और बातो की ओर भी इंगित करती है जिन्हे हम उसे फिल्म के समकक्ष रख कर बेहतर समझ सकते है। दोनो ही गतिशील दृश्य-कलाएँ हैं लेकिन फिल्म का दृश्य दृश्य का आभास है क्योंकि वह वस्तुत: पर्दे पर एक छाया है जब कि रंगमंच का दृश्य एक यथार्थ है। यह एक ऐसा फर्क है जिस से दोनों माध्यमों में यथार्थ की भिन्न प्रतीतियाँ सम्भव होती है। फिल्म यथार्थ को एक छायादृश्य में बदलती है और हम यह जानते हुए भी कि वह अयथार्थ है, पर्दे पर दृश्यमान छाया है, उसके माध्यम से यथार्थ को सम्प्रेषित करने और पहचानने की कोशिश करते है। रंगमच की प्रक्रिया इस से बिल्कुल भिन्न है जिस मे सामने जो कुछ घटित हो रहा होता है, वह यथार्थ होते हुए भी अयथार्थ हो जाता है क्योंकि हम जानते हैं कि वह अभिनय है। फिल्म में यथार्थ निरन्तर छाया ही रहता है जब कि रंगमच के माध्यम से यथार्थ और यथार्थेतर–मैं नही जानता कि यह शब्द सही है या नही–एक साथ उद्घाटित होते हैं। शायद यही कारण है कि रंगमंच बुनियादी तौर पर यथार्थपरक शैली है–प्रतीकात्मक होते हुए भी यथार्थपरक और उसको लेकर किये गए सभी प्रयोगो मे इस बात की अनदेखी नही की जा सकी है। शायद इसलिए कभी-कभी रंगमच एक कला माध्यम के रूप मे जीवन या सृष्टि की प्रत्ययवादी धारणा के अधिक करीब जान पड़ता है। भारतीय विचार-परम्परा मे नाटक को सृष्टि या यज्ञ-प्रक्रिया से जोड़ कर देखना या अन्यत्र भी इतिहास और जीवन की उपमा अधिकाशत: रंगमच से देना इसी प्रकार की धारणा की ओर संकेत करते है।

शायद एक और दृष्टि से भी रंगमच समकालीन परिस्थितियो और मानसिकता मे बेहतर संवाद स्थापित कर सकता है। समकालीन मानसिकता का आग्रह भौतिक यथार्थता पर अधिक है, उस की उपेक्षा उसे अनाश्वस्त कर देती है। रंगमच एक सम्प्रेषण माध्यम के रूप मे उस का यह आग्रह पूरा करता है। यह माध्यम ग्राहक को अपने ग्लैमर मे चकाचौंध चाहे न कर सके लेकिन मनोवैज्ञानिक स्तर पर यह अपने ग्रहीता की मानसिक बनावट के अधिक करीब पड़ता है। यही कारण है कि यान्त्रिक प्रक्रिया और छाया दृश्यो से ऊब और यथार्थपरकता तथा मानवीय उपस्थिति का आग्रह एक संवेदनशील मानस को बार-बार रंगमच की ओर आकर्षित करता है।

समकालीन परिदृश्य में रंगमंच के इस स्वभाव को ध्यान में रखते हुए एक नाटककार की दृष्टि से इस पर विचार करना निश्चय ही अप्रासंगिक नहीं होगा। यह एक सामान्य और सर्वस्वीकृत सी धारणा रही है– खास तौर से आधुनिक युग में और भी अधिक–कि नाटक की सार्थकता उस के अभिनेय होने में है, अतः नाटककार के लिए यह आवश्यक है कि नाट्य लेखन में अभिनेयता का पूरा खयाल रखे। लेकिन यह समग्र प्रक्रिया का सरलीकरण है। नाटक और रंगमंच ऐसी दो अलग चीजें नहीं हैं जिन्हें अभिनेता द्वारा जोड़ा जाना है बल्कि दोनों का वास्तविक माध्यम यथार्थ मानव ही है। नाटक का शब्दबद्ध रूप उसी मानव माध्यम का वाक्पक्ष है क्योंकि वाक् अनिवार्यतया मानवीय गुण है और उस का रंगमंचीय रूप एक सवाक् सक्रिय अभिव्यक्ति। यह माना जाता है कि नाट्य-निर्देशक का कर्म उस वाक्बद्धता को दैहिक रूप देना है। लेकिन यह दैहिक रूप नाटककार की रचना से भी बाहर नहीं है। उसे सिर्फ ऐसी भाषा नहीं लिख देनी है जिसे कुछ मुद्राओं के साथ बोला जा सके। उस का सामर्थ्य इस बात में है कि वह अपने अनुभव की आंगिक पहचान को भाषा दे–यानी वह शब्द की दैहिक अभिव्यक्ति की दृष्टि अपने में विकसित करे। इसलिए सही नाट्यभाषा वह है जो दैहिक सक्रियता में से उपजी हुई हो अर्थात् जिस में भाषा और देह यानी सूक्ष्म और स्थूल एक हो जाते हों। तभी भाषा मानव शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त भी हो सकेगी। अतः साथ ही वह ऐसी भाषा हो जो मानव शरीर को भी एक माध्यम, एक प्रतीकात्मक माध्यम बना सकने में समर्थ हो–अर्थात् एक ऐसी भाषा जो न केवल स्वयं प्रतीक है बल्कि अपने प्रयोक्ता को भी प्रतीक की हैसियत दे। यह तभी सम्भव है जब आलेखकार में एक ऐसी दृष्टि का विकास हो जो समग्र मानवीय जगत के प्रतीकात्मक गूढ़ार्थ की ओर उन्मुख हो। यह आवश्यक नहीं है कि यह दृष्टि किसी धार्मिक-आध्यात्मिक दर्शन ही से प्रभावित हो–बल्कि सामान्य घटनाओं के फलितार्थ में किसी ऐतिहासिक या वैज्ञानिक प्रक्रिया की पहचान भी इसी तरह की एक दृष्टि है। जब हम सामान्य जीवन की घटनाओं को दो व्यक्तियों या समूहों का आकस्मिक संयोग न मान कर उन की पृष्ठभूमि में किन्हीं प्रवृत्तियों की प्रेरणा को पहचानने की कोशिश करते हैं तो उस में भी क्या कोई घटना विशेष किसी प्रवृत्ति का संकेतात्मक प्रतिफलन नहीं होती ?

लेकिन लेखक को मानव शरीर के माध्यम से प्रकट होने वाली भाषा को शरीर से जोड़े रखते हुए सूक्ष्म एवं प्रतीकात्मक विश्वसनीयता अर्जित करनी होती

है। अतः अनिवार्यतया उस भाषा की व्यंजना को बहुआयामी होना होता है। दूसरे शब्दो मे, भाषा का इकहरापन नाट्यात्मकता को, भाषा के माध्यम से सत्य के नाट्यात्मक उद्घाटन को सीमित करता है। इसलिए भाषिक स्तर पर आलेखकार की असली चुनौती यही है कि वह किसी तरह उस भाषा को रच सके जो एक ओर दैहिक अस्तित्व के साथ जुडी हो – जो केवल बौद्धिक अवधारणाओ की भाषा नही बल्कि गतिशील दैहिक सवेगो के साथ एकमेक हुई भाषा हो और दूसरी ओर उस देह को भी किसी मानवगम्य सत्य की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की तरह प्रस्तुत कर सके। वह भाषा जो देह की उपज हो, लेकिन इस तथ्य की ओर भी इगित करती हो कि देह भी किसी सत्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति का चेतन माध्यम है। अन्य कलाएँ जहाँ अधिकाशत. निर्जीव उपकरणो को माध्यम बनाती हैं वहाँ रंगमच एक ऐसी सम्प्रेषण प्रक्रिया है जो स्वयं मानव अस्तित्व को ही माध्यम के रूप मे ग्रहण करती है। मानव स्वयं एक माध्यम हो जाता है – लेकिन विमानवीकरण के अर्थ मे नही, क्यो वह अब भी यन्त्र नही चेतना रहता है – बल्कि जहाँ उस की देह, उस का अस्तित्व किसी चेतना का माध्यम, उस की अभिव्यक्ति हो जाता है। मानव स्वय एक माध्यम हो सकता है, यह विचार क्या सामान्य यथार्थ से इतर किसी बात की ओर इगित नही करता? इसलिए नाटककार की असली चुनौती यह है–खास तौर से आज के विमानवीकृत समाज मे–कि वह न केवल भाषा को बल्कि अपने वास्तविक माध्यम मनुष्य की सार्थकता को अर्जित करे और यह उसे सिर्फ भाषा के माध्यम से करना है। इसलिए नाटक का अभिनेय होना तो स्वाभाविक मांग है ही पर नाट्यभाषा की रचनात्मकता और सम्प्रेषणीयता इस मे है कि वह पढे जाने पर भी एक तरह का नाट्यानुभव, एक मानवीय सक्रियता का अनुभव पाठक तक प्रेषित करे।

मेरी दृष्टि मे यह नाट्य भाषा का आदर्श है–यद्यपि यह आवश्यक नही है कि बहुत-से अच्छे-समझे जाने वाले नाटको में इस आदर्श का पूरा निर्वाह हुआ ही हो। लेकिन सही दिशा यही है और इसलिए अच्छे समझे जाने वाले नाटक भाषा और अभिनय दोनो ही स्तरों पर दृश्य यथार्थ और दृश्येतर यथार्थ दोनो ही को एक साथ झलकाते. और उन से कई दृश्य-बिम्बो और प्रतीकार्थों को उजागर करते हुए एक समग्र अनुभव खड को एक लय की तरह रचते हैं। इस अनुभव खंड मे वाक् और सक्रियता के अलावा दृश्य भी एक अनिवार्य तत्व है। अतः नाटककार की भाषा को उस दृश्य के सारे अनुभव को भी अपने मे समेटना होता है। मैं कोष्ठको के निर्देश की बात नही कर रहा–उस का कम से कम होना

या न होना अच्छा है क्यों कि उस मे देह और शब्द एकमेक नही होते हैं। सवादों की अपनी बुनावट मे ही दृश्य की कल्पना का समाहित होना आदर्श स्थिति है क्यो कि मूल नाट्यानुभव वही है। शब्द, सक्रियता और दृश्य नाटक के तीन प्रमुख घटक है जिन्हे त्रिभाषा कहा जाता है। ये तीनो तत्त्व फिल्म में भी मिलते है लेकिन नाटक की विशिष्टता इस मे है कि वह एक मानवीय माध्यम है। अत उस के लिए अनिवार्य है कि यह त्रिभाषा मानवीय सक्रियता से अनुप्लावित हो। सजीव मानव उपस्थिति के बिना नाटक की कल्पना नही की जा सकती। समकालीन परिस्थिति मे--जहाँ हर स्तर पर मानव का अवमूल्यन या अवमानवीकरण हो रहा हो--मानव को और मानव के माध्यम से समूचे जीवन को, एक वृहत्तर जीवन को केन्द्रीय स्थिति में रखना एक बड़ी रचनात्मक चुनौती है, लेकिन इसी मे इस की सार्थकता भी है। भाषा के निरन्तर अवमूल्यन और खोती जाती विश्वसनीयता के इस दौर में उसे न केवल पुन विश्वसनीय बनाना बल्कि उसे दैहिक अस्तित्व के साथ, दैहिक सवेगों के साथ जोडते हुए भी एक रैस्ट्रेन के साथ व्यक्त करना – क्योंकि रैस्ट्रेन आधुनिक सम्प्रेषण की एक खास पहचान है--एक अन्य प्रकार की चुनौती है जो बहुत ही दुष्कर है। लेकिन इस जटिलता मे ही शायद उस का समाधान भी कही हो, यद्यपि वह क्या है इस बारे मे कोई निश्चित फार्मूला नही बनाया जा सकता।

नाटक के बारे मे अन्य कई सवाल समकालीन सन्दर्भ मे उठते है। सक्रिय और कुछ हद तक द्वन्द्वात्मक विधा होने के कारण वह समकालीन द्वन्द्वपूर्ण और तनावग्रस्त स्थिति को ज्यादा ठीक तरह से अभिव्यक्त कर सकती है या सामाजिक सन्देशवाहक के रूप मे उस की उपयोगिता उसे प्रासगिक बनाती है--आदि मुद्दे भी इस प्रसग मे उठाये जा सकते थे। लेकिन वे इसलिए नही उठाये गये कि इस तरह के सारे उपयोग मे आने के बावजूद एक कलाविधा या सम्प्रेषण के माध्यम के रूप मे वह उस का स्वरूपगत या स्वभावगत धर्म नही है। विभिन्न आधुनिक रगमचीय शैलियो की चर्चा की जा सकती थी, पर वह बहुत विस्तार लेता और उस का उपयुक्त अवसर भी शायद यह नही है। अत मेरी कोशिश उन्ही सवालो की ओर इगित करने की रही हैं जो उस के बुनियादी स्वभाव से जुडे है। अपने अल्प नाट्य-लेखन के दौरान कुछ बाते मन मे उठती रही है। उन्हे आप के विचारार्थ परस्तुत करना ही मेरा उद्देश्य रहा है।

वत्सल निधि द्वारा आयोजित लखनऊ लेखक-शिविर मे पढ़ा गया आलेख

आध्यात्मिकता की प्रासंगिकता

श्रेष्ठ साहित्य का एक गुण यह होता है कि वह जीवन और अस्तित्व के बुनियादी सवालों और उनके माध्यम से एक सर्वकालिक बृहत्तर सत्य से अनुभूत्यात्मक साक्षात्कार करता और करवाता है। इससे यह न समझा जाये कि अपने समय के सन्दर्भों से वह बिलकुल कटा होता है। वस्तुतः अपने समय के सन्दर्भों के माध्यम से ही वह उन बुनियादी सवालो और किसी बृहत्तर सत्य तक पहुँचता है क्योंकि सत्य तभी सत्य है जब वह प्रत्येक स्तर पर अपनी सकेतात्मक अभिव्यक्ति कर सके। इस प्रक्रिया मे यह आवश्यक नही है कि समय के सन्दर्भ किसी स्थूल रूप मे ही प्रकट हो बल्कि श्रेष्ठ साहित्य में अक्सर उनकी उपस्थिति बहुत संकेतात्मक और बहुआयामी होती है। अच्छे साहित्य मे यह एक प्रवृत्ति बराबर दीखती है कि वह बहुत छोटे-छोटे सन्दर्भों और ब्योरे की बातो को भी इस तरह अन्त ग्रथित करता है कि उन में से अद्वितीय अनुभव और बृहत्तर सत्य झिलमिलाने लगते हैं। किसी भी जाति और किसी भी युग के महान साहित्य मे यह गुण निरन्तर देखा जा सकता है।

अच्छे साहित्य की एक विशेषता यह भी है कि वह हमेशा किसी-न-किसी रूप मे नैतिक सवालो से जूझता है और इस संघर्ष मे परिवर्तनशील सन्दर्भों को अपनी सारी जटिलता और गहराई के साथ अभिव्यक्त करता और उनके माध्यम से बुनियादी नैतिक मूल्यो की पुनः प्रतिष्ठा करता है। बहुत से साहित्यिक विचारक इस नीतिपरकता या मूल्यबोध को ही श्रेष्ठ साहित्य की एकमात्र कसौटी मानते हैं। एक स्तर पर कसौटी यह है भी। लेकिन एक और गहरा स्तर भी होता है जहाँ नैतिक प्रश्न या मूल्यबोध अनुपस्थित तो नही होते लेकिन गौण हो जाते है और उनसे भी परे एक अस्तित्वगत आध्यात्मिक स्तर उजागर होता है—बल्कि तब कई बार नैतिक सवाल ही अस्तित्वगत स्तर ग्रहण कर लेते है। उस साहित्य मे, जिसे महान कहा जाता है, सदैव ही सत्य से आध्यात्मिक साक्षात्कार की कोशिश मिलती है। होमर, वर्जिल, व्यास, कालिदास, शेक्सपियर, गेटे, कबीर, सूर, मीरा और आधुनिक काल मे टाल-

स्टॉय, दास्तोयेव्स्की, काफ्का, येट्स, ईलियट, रिल्के, लागर क्विस्त, पास्तरनाक, बैकेट और हमारे यहाँ निराला और अज्ञेय जैसे लेखकों का कृतित्व इस कथन का स्पष्ट प्रमाण है।

साहित्यिकों के एक वर्ग को इस स्थापना से कुछ आपत्ति हो सकती है। लेकिन वस्तुत: उनकी आपत्ति इस स्थापना की वजह से नहीं बल्कि 'आध्यात्मिकता' शब्द को एक रूढार्थ में ग्रहण करने के कारण अधिक होती है। साहित्य यदि समाज मे कोई परिवर्तन घटित करता भी है तो वह संवेदन के गहनतम स्तर का पुन. संस्कार ही होता है। श्रेष्ठ साहित्य सदैव हमारी सवेदना में कुछ-न-कुछ काटता-छाँटता है। इसलिए साहित्य को सामाजिक उपयोगिता या परिवर्तन का एक उपकरण मानने वाले वर्ग के प्रयोजन की वास्तविक सिद्धि भी तभी हो सकती है जब वे अपने नैतिक सवालो को मनुष्य के अस्तित्व की गहनतम पर्त मे उपजायें। हिन्दी में मुक्तिबोध कभी-कभी इस ओर प्रवृत्त होते दीखते हैं—और इन्ही अर्थों में वे 'आत्मान्वेषण' के कवि थे—लेकिन अपने माध्यम के साथ उनका सघर्ष वाछनीय होते हुए भी उतना सफल नही हुआ कि वे अपने अनुभवो को उस काव्योचित सहजता के साथ सम्प्रेषित कर पाते जो महान साहित्य की एक विशिष्ट पहचान होती है।

हिन्दी की नयी पीढ़ी के रचनाकारो में नैतिक बोध की तीव्रता और प्रखरता स्पष्ट है जो निश्चय ही एक शुभ लक्षण है। लेकिन यह नैतिक बोध उन आध्यात्मिक गहराइयों तक नही पहुँचता जहाँ नैतिकता सामाजिक उपयोगिता या प्रासगिकता की ऊपरी सतह पर न रहकर अस्तित्व मात्र की वेदना की उपज होती है। इस प्रकार की संवेदना को ही मैं आध्यात्मिकता कहता हूँ और सही अर्थों में यह आध्यात्मिक सवेदना ही किसी साहित्य को महानता का दर्जा देती है। हिन्दी साहित्य मे जो लिखा जा रहा है उसके अधिकाश में यह नैतिक बोध एक तरह के राजनैतिक बोध में रूपान्तरित होता तो दीखता है लेकिन आध्यात्मिक गहराइयो को स्पर्श तक नही कर पा रहा। लिखे जा रहे साहित्य में सामाजिक संघर्ष भी मिलता है तो अधिकांशत: वह आरोपित लगता है, अस्तित्व की सहज प्रवृत्ति होकर नही उभरता। इसके अभाव में साहित्य एकांगी होता जाता है और जीवन के महत्त्वपूर्ण सवालो को भी एकायामी पृष्ठभूमि में ही देखा-समझा जाने लगता है। वर्तमान लेखन के एक अत्यन्त अल्पाश में ही इस आध्यात्मिक सवेदना का अनुभव होता है।

अभी कुछ अर्सा पूर्व केदारनाथ सिंह ने एक साक्षात्कार में यह शिकायत की थी कि इन दिनों प्रकृति और प्रेम की कविताएँ नही लिखी जा रही– और जो थोड़ी-बहुत लिखी जा रही है वे अज्ञेय और शमशेर जैसे बुजुर्ग कवियो द्वारा ही। इसका कारण भी क्या संवेदना का एकायामी हो जाना ही नही है ? प्रकृति और प्रेम की अच्छी कविताओ के लिए धर्मनिरपेक्ष आध्यात्मिक मनोवृत्ति एक किस्म की अनिवार्यता है। अज्ञेय और कुछ हद तक शमशेर मे यह मनोवृत्ति मिलती है। प्रारम्भिक कुँवर नारायण, भारती और साही में और प्रौढ़ सर्वेश्वर मे भी कुछ सीमा तक यह मनोवृत्ति दीखती है। लेकिन अधिकांश युवा रचनाकारो में न केवल इस प्रवृत्ति का अभाव है बल्कि इस तरह की धारणा के विरोध में एक दुराग्रह विकसित होता जा रहा है। मुझे याद पड़ता है कि कुछ समय पूर्व अशोक वाजपेयी ने भी धार्मिक संवेदना के अभाव का सवाल उठाया था लेकिन बाद में वे स्वयं नैतिक सवालो के सामाजिक स्तर की ओर ही उन्मुख हो गये। रमेशचन्द्र शाह ने भी हिन्दी में आध्यात्मिक संवेदना के भोथरेपन की बात की थी लेकिन बाद में वे भी अपनी आलोचना में इधर अपेक्षित ध्यान नही दे पाये।

यह स्पष्ट कर लेना जरूरी है कि जब मैं आध्यात्मिक संवेदना की बात करता हूँ तो वह किसी अर्थ मे कोई सरल अनुपार्जित धार्मिक आस्था या रहस्यवादिता नही है। आस्था, आनन्द या रहस्यवादिता का भाव आधुनिक साहित्य मे भी मिल सकता है लेकिन निरर्थकता का बोध, जीवन को अर्थ देने का संघर्ष, मानवीय नियति और मृत्यु से साक्षात्कार, पीड़ा और अपने संघर्ष की असफलता के बोध के बावजूद उभरती जिजीविषा आदि भावदशाओं की गहराइयों में से गुज़रने का साक्ष्य प्रस्तुत करना भी उतना ही आवश्यक है। कई बार लगता है कि किसी तरह की आध्यात्मिक वेदना मे से गुज़रे बिना ही हमारा रचनाकार आस्था की मनोभूमि पर पहुँच गया है– इसका परिणाम यह होता है कि इस तरह की अनुपार्जित आस्था भी ओछी और अक्सर झूठी होने की प्रतीति करवाती है। सेल्मा और योके की यन्त्रणा में से गुजरे बिना 'अपने-अपने अजनबी' की आस्थावादिता निपट खोखली होती। आस्था और अनुभव उत्तराधिकार में नही प्राप्त किये जाते, उन्हे हर बार अर्जित करना होता है। इस अर्जन की कोशिश–चाहे उसमे से सकारात्मक की बजाय नकारात्मक ही कुछ मिला हो–अपने सार रूप में एक आध्यात्मिक कोशिश है और इसकी उपस्थिति ही आधुनिक साहित्य को सार्थक

और सही अर्थों में प्रासगिक बनाती है। उसके बिना सारी प्रासगिकताएँ उथली और छिछली रह जाती है। इसलिए यह विचारणीय है कि हिन्दी की युवा-पीढी मे अपने तीव्र नैतिक बोध के साथ यह आध्यात्मिक सवेदना क्यो विकसित नही हो पा रही। क्या इसका कारण पारम्परिक आध्यात्मिकता के प्रति उदासीनता है? यदि ऐसा है भी तो उसके निरर्थक होते चले जाने और नयी आस्था के विकसित न हो पाने की पीडा का अहसास क्यो साहित्य में व्यक्त नही हो रहा? क्यो अनास्था सिर्फ एक घोषणा भर बन कर रह जाती है? कुछ आलोचक प्रगतिशीलता के आन्दोलन को भी इसका कारण मान सकते हैं लेकिन इन आध्यात्मिक सवालो में से गुजरे बिना प्रगतिशीलता भी अनु-पार्जित और इसलिए सतही स्तर पर ही रह जाती है–अस्तित्वगत अनुभूति नही बनती।

साहित्य में प्रकृति : आधुनिक दृष्टि

ब्रेख्ट की कई कविताओ मे आधुनिक जीवन मे राग-तत्त्व के क्षीण होते चले जाने पर गहरी चिन्ता व्यक्त की गयी है। ऐसी ही एक कविता में कहा गया है कि यह कितनी बडी विडम्बना है कि हमारे युग मे मौसम और फूलों की बात करना किसी षडयन्त्र का हिस्सा होने जैसा लगने लगा है। अक्सर इस कविता का सन्दर्भच्युत इस्तेमाल साहित्य में प्रकृति के सौन्दर्य और प्रेम जैसी भावनाओ की अप्रासगिकता सिद्ध करने के लिए किया जाता रहा है जबकि यह कविता प्रकारान्तर से प्रकृति के प्रति मानवीय आकर्षण की स्वाभाविकता को ही पुष्ट करती हुई हमारे युग की मानसिकता पर व्यंग्य करती है – यदि ऐसा न होता तो स्वयं ब्रेख्ट की अपनी कई कविताओ मे प्रकृति ओर मानवीय अस्तित्व के रिश्ते की सार्थक तलाश न होती।

प्रकृति और साहित्य के रिश्ते पर किसी भी दृष्टिकोण से विचार करने की पृष्ठ-भूमि मे इस तथ्य को रेखांकित करना जरूरी है कि मनुष्य स्वयं प्रकृति का ही एक अंश है – और समग्र सार्वभौम प्रकृति के सन्दर्भ में तो अपनी सारी विशिष्टता के बावजूद बहुत ही छोटा अंश। मानव जीवन से रहित प्रकृति की तो कल्पना की जा सकती है – यद्यपि यह कल्पना भी मानव ही कर सकता है – लेकिन प्रकृति के बिना मानव-जीवन की कल्पना नही हो सकती। प्रकृति के ज्ञान के बिना मनुष्य का ज्ञान खडित और अधूरा और इसीलिए विकृत ज्ञान है। मनुष्य और प्रकृति को जानने की कोशिश मे ही ज्ञान की विभिन्न प्रक्रियाओं का विकास हुआ है और इनमे विज्ञान और साहित्य दो विशिष्ट और महत्वपूर्ण प्रक्रियाएँ हैं – बल्कि एक तरह से यह भी कह सकते हैं कि विज्ञान प्रकृति के नियमो की रोशनी मे जीवन को समझने की कोशिश है तो साहित्य और कला की प्रक्रिया मानवीय अनुभूतियों की रोशनी मे प्रकृति सहित समग्र जीवन को जानने की प्रक्रिया है।

प्राकृतिक परिवेश और साहित्य का रिश्ता इसीलिए सहजसिद्ध है। प्रकृति मनुष्य का परिवेश भी है और वह माध्यम भी जिसमे वह अपने को पहचानता है।

साहित्य अपने को जानने की एक विशिष्ट अनुभूत्यात्मक प्रक्रिया है, इस कारण सभी जातियों और युगो के साहित्य मे प्रकृति के साथ इस रिश्ते की पहचान न केवल बराबर मिलती रही है – बल्कि उसके नितनये रूप उजागर होते गये है। प्रकृति के साथ जुड़ाव, उसके सौन्दर्य के प्रति ललक, उसकी भव्यता के प्रति विस्मय आदि सब जीवन के साथ तात्विक एवं मूलगत जुड़ाव, ललक और विस्मय के ही पर्याय हैं। पहले के युगो मे प्राकृतिक परिवेश के साथ मनुष्य का घनिष्ठ और आत्मीय सम्बन्ध रहा है जिसकी अचूक पहचान साहित्यकार को रही है। आधुनिक काल मे इस आत्मीयता और घनिष्ठता के अनुभव मे कई कारणो से कुछ कमी आयी है और इस तथ्य की भी अनदेखी की गयी है कि आधुनिक काल मे ही पहली बार विज्ञानसम्मत आधार पर यह सम्भव हो सका है कि मनुष्य स्वय को प्रकृति के एक अंश के रूप में पहचाने। जिस युग में प्रकृति के नियमो के सहारे सम्पूर्ण जीवन और मानवीय विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया को जानने-समझने और उस के आधार पर सम्पूर्ण मानवीय भविष्य का निर्धारण करने की कोशिश की जाती है, उस युग में प्राकृतिक परिवेश के साथ जुडाव की प्रवृत्ति अधिक प्रभावी होनी चाहिए। मनुष्य और प्रकृति के इस रिश्ते को पुष्ट करने की दिशा में जहाँ पारिस्थितिकी वैज्ञानिक-इकॉलॉजिस्ट- और समाजशास्त्री उपयोगितापरक एवं नैतिक आग्रहों के आधार पर कार्य करते है, वहाँ साहित्यकार इस रिश्ते की अनुभूत्यात्मक पहचान करता है और इसलिए यह सिर्फ साहित्यकार के लिए ही सम्भव होता है कि वह प्राकृतिक परिवेश को एक वस्तु के रूप में नही, जीवित सत्ता के रूप में अनुभव कर सके। यदि कुछ कारणो से प्रकृति के साथ मनुष्य के सहज और घनिष्ठ रिश्ते में कुछ विक्षोभ हुआ है तो साहित्यकार द्वारा इस विक्षोभ की अनुभूति और सम्प्रेषण प्रकारान्तर से उस सहजता और घनिष्ठता की ललक को ही अभिव्यक्त करते है।

मानवीय जीवन और प्राकृतिक परिवेश के इस घनिष्ठ रिश्ते के कारण ही प्रकृति के साथ साहित्यकार के सम्बन्ध-विधान के माध्यम से हम केवल प्रकृति के प्रति ही नही, समग्र जीवन के प्रति उसकी वास्तविक सवेदना के स्वरूप और उस की जीवन-दृष्टि को पहचानने का प्रयास कर सकते है। विभिन्न जातियो और युगो के साहित्य में प्रकृति के प्रति अभिव्यक्त दृष्टिकोण विभिन्न रचनाकारो की व्यक्तिगत भिन्नताओं के साथ सम्बन्धित युगो और जातियो की जीवन-दृष्टि का विश्वसनीय परिचय हो सकता है। यह क्या सयोग ही है कि अपेक्षाकृत

स्थिर युगो में प्रकृति के सुन्दर, मनोरम और शृंगारिक चित्र ही अधिक मिलते हैं, जबकि बुनियादी उथल-पुथल के युगों में प्रकृति की विराटता, समग्रता, पौरुष और उसके संघर्षपरक स्वरूप की ओर अधिक ध्यान दिया गया है ? प्रकृति के प्रति ललक जीवन के प्रति तात्त्विक ललक—जिजीविषा—की ही अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि केवल साहित्य-रूपो में ही नही जीवन में भी क्लासिकी नियमों के विरुद्ध विद्रोह और मानवीय स्वाधीनता पर आग्रह करने वाले साहित्यकारो में भी *प्रकृति के प्रति अदम्य आकर्षण की अभिव्यक्ति* हुई है। पुनर्जागरण काल की साहसिकता की प्रवृत्ति पश्चिमी साहित्य में 'समुद्र की पुकार' या 'कॉल ऑफ सी' की प्रवृत्ति के रूप में अभिव्यक्त हुई। पश्चिमी रोमांटिक आन्दोलन में भी एक ओर मानवीय स्वाधीनता पर बल रहा, तो दूसरी ओर प्रकृति के प्रति आकर्षण पर। भारतीय भाषाओ के साहित्य में रोमांटिक प्रवृत्तियों और हिन्दी के छायावादी काल में भी प्रकृति के प्रति गहरे आकर्षण के साथ मानवीय स्वाधीनता और उन्मुक्तता का आग्रह बराबर अभिव्यक्त होता रहा है। नयी कविता और बाद की कविता में भी प्रकृति के साथ यह रागात्मक लगाव निरन्तर बना रहा है।

प्राकृतिक परिवेश और उस मे आ रही विकृतियो के माध्यम से साहित्यकार जीवन के प्रति अपनी दृष्टि का भी पूरा आख्यान कर सके हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो उस कथित आधुनिक धारणा की भ्रान्ति स्पष्ट नजर आने लगती है जो प्रकृति के प्रति किसी भी प्रकार के आकर्षण को पलायनवाद का नाम देती है। प्रकृति के साथ मनुष्य का रिश्ता आदिम और अस्तित्वगत रिश्ता है, इसलिए मनुष्य के आद्य बिम्बो और प्रतीको के निर्माण मे प्राकृतिक परिवेश की निर्णायक भूमिका रहती है—बल्कि कई बार तो प्राकृतिक परिवेश के उपकरणों का प्रतीकार्थ अधिक गहरा और साथ ही अधिक सम्प्रेषणीय होता है। सांस्कृतिक प्रतीको के निहितार्थ के सम्प्रेषण के लिए जातीय परम्पराओ और विश्वासो की अन्तरग पहचान आवश्यक होती है और उनका भावात्मक सम्प्रेषण अक्सर उस जाति विशेष के सदस्यो तक ही अधिक प्रभावी हो सकता है जिन में उस संस्कृति के प्रतीकों के प्रति रागात्मक आकर्षण बचा रहता है–अन्यथा यह सम्प्रेषण मूलतः बौद्धिक स्तर पर ही रह जाता है, भावात्मक स्तर पर नहीं ग्रहण होना; जबकि प्राकृतिक प्रतीको का स्वरूप और प्रकृति स्वभावतः ही अधिक सार्वजनीन होती है और इसलिए उन का सम्प्रेषण भी सम्भवतः अधिक सार्वजनीन। *यह ठीक है कि कवि अब केवल*

प्रकृति-काव्य ही नही लिखता लेकिन इसका तात्पर्य यह नही है कि प्रकृति के साथ उसका कोई रागात्मक सम्बन्ध नही है, या नही होना चाहिए। वह प्रकृति में केवल मनोरम दृश्यो की ही तलाश नही करता बल्कि उस में समकालीन मानवीय अर्थ की तलाश करता है। वह जो कुछ लिखता है वह शुद्ध प्रकृति काव्य या प्रकृति-चित्रण ही नही है और जो है वह प्रकृति भी समकालीन जीवन के परिदृश्य से घिरी होती है, मात्र इसी कारण प्रकृति के साथ उसका रिश्ता कम महत्वपूर्ण नही हो जाता। यह केवल सयोग ही नहीं है कि आधुनिक काव्य बल्कि गद्य साहित्य में भी पहाड़, समुद्र, रेगिस्तान, चट्टान, पेड़ जैसे प्राकृतिक उपकरणो और सर्दी, वर्षा, हिमपात आदि प्रकृति के कार्य व्यापारों पर आधारित रचनाएँ कम नहीं लिखी गयी हैं और न उनकी सम्प्रेषणीयता और लोकप्रियता अन्य रचनाओ के मुकाबले कम प्रभावी रही है। पाब्लो नेरूदा घोषित रूप से एक ऐसे कवि रहे हैं जिनकी समकालीन जीवन के साथ सम्पृक्ति को सभी स्वीकार करते हैं, लेकिन अपने प्राकृतिक परिवेश के साथ उनका काव्य-सम्बन्ध उन्हे पलायनवादी नहीं ठहराता। महत्वपूर्ण यह है कि प्रकृति के साथ उनका काव्य-सम्बन्ध किस प्रकार का है और उसमे आधुनिक मन की झलक मिलती है या नही। 'सागर-मुद्रा' का कवि सिर्फ इसलिए पलायनवादी नही कहा जायेगा कि उस का काव्य-आलम्बन समुद्र है–वह समुद्र जो न केवल जीवन की समग्रता को, बल्कि मुख्यतः आधुनिक जीवन मे 'अविराम तनावों', उद्वेलनों और विडम्बनाओ का बोध कराता हुआ जीवन की समग्रता के बोध को पुष्ट करता है। कहना होगा कि इस तरह की साहित्यिक संवेदना केवल प्रकृति के साथ ही नही जीवन मात्र के, और समकालीन जीवन के भी साथ हमारे रिश्ते को और अधिक गहरा और जीवन्त बनाती है।

प्राकृतिक परिवेश वह माध्यम है जिसमे मनुष्य अपने को देखता, अनुभव करता और पहचानता है। साहित्यकार की दृष्टि भी मूलतः मानवीय दृष्टि है, इसलिए साहित्यिक सवेदना के लिए यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है कि वह *प्रकृति में भी मानवीय आशयो और कार्य-व्यापारो का आरोपण करे।* इसलिए प्रारम्भ से ही प्रकृति के अवलोकन मे मानवीय आशयो और अर्थों की ही नही, मानवीय आकारो और सक्रियता की भी उपस्थिति का अहसास किया जाता रहा है। इसलिए कविजन साहित्य-रचना के आदिकाल से ही प्रकृति और उसके विभिन्न रूपो और मुद्राओं का मानवीकरण करते रहे हैं।

यह प्रवृति हमे एक ओर जहाँ वैदिक कवि मे परिलक्षित होती है, वही दूसरी ओर पश्चिम के रोमांटिक कवि मे भी—और शायद उन दोनों के सम्मिलित प्रभाव से छायावादी कवि मे भी। नई कविता और उसकी परवर्ती कविता में भी यह प्रवृत्ति बराबर बनी रही है, यद्यपि उसके सन्दर्भ और प्रतीकार्थ बदलते गये हैं। छायावादी कवि जहाँ सन्ध्या को एक सुन्दर परी-सी उतरती हुई अनुभव करता है, वही आधुनिक कवि शाम को 'सफर मे थकी हुई एक उदास लड़की' के रूप मे देखता है। दोनो ही प्रकृति का मानवीकरण करते और उसे स्त्री-रूप मे देखते है, लेकिन एक का देखना दूसरे के देखने से कितना अलग है, उसे अलग से स्पष्ट करने की जरूरत नही है। समुद्र की विराटता और ज्वार के चित्र रोमांटिक काव्य मे भी कम नही हैं, लेकिन समुद्र तल मे से उछल कर 'वायु मागती मछली' मे मानवीय जिजीविषा और समुद्र से एक क्षण के लिए विलग एक बून्द में ढलते हुए सूरज की आग से 'आलोकित अपनेपन' के प्रतीकार्थ को एक आधुनिक मन ही पहचान सकता था।

इन सन्दर्भगत और देशकालगत भिन्नताओ के बावजूद केवल साहित्यकार या कलाकार की सवेदना के लिए ही यह सम्भव था कि वह प्रकृति को एक जड़ वस्तु की तरह नही, एक सजीव और चेतना सम्पन्न अस्तित्व के रूप में देख सके। यह आश्चर्यजनक है कि केवल भाववादी दृष्टि या आध्यात्मिक संवेदना के कवियों ने ही नही भौतिकवादी दृष्टि मे आस्था रखने वाले कवियों-कलाकारो ने भी अपने रचना-लोक मे प्रकृति को एक सजीव सचेतन उपस्थिति की तरह महसूस किया। प्राकृतिक परिवेश के माध्यम से केवल प्रेम और आध्यात्मिकता की ही नही, आधुनिक जीवन की उलझनो और तनावों यहाँ तक कि वर्ग-संघर्ष की भावनाओ को भी प्रभावी अभिव्यक्ति मिली है।

लेकिन मानवीकरण की इस प्रक्रिया मे प्रकृति को मानवीय आशयो से सम्पृक्त करके ही देखा जा सका। इस तथ्य को भुला दिया गया कि मानव स्वय प्रकृति का ही एक अश है और इसलिए प्रकृति में मानवीय अभिप्रायों को पहचानने के साथ-साथ मानव में प्रकृति के अभिप्रायो को पहचानना भी उतना ही आवश्यक है। मानवीकरण की इस प्रक्रिया मे प्रकृति मानवीय भावनाओ की अभिव्यक्ति के एक सफल और प्रभावी माध्यम के रूप में तो प्रयुक्त की गयी, लेकिन एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में उस की उपस्थिति की पहचान साहित्यिक सवेदना के माध्यम से कम ही की जा सकी। हम फिलहाल इस दार्शनिक विवाद में न भी पड़ें कि प्रकृति के माध्यम से कोई परम

चेतना ही अपने को अभिव्यक्त करती रहती है या वह एक निरपेक्ष जड़ सत्ता मात्र है, तो भी मानवीय चेतना पर पड़ने वाले उसके प्रभावों से इनकार नहीं किया जा सकता। भाववादी दृष्टि तो प्रकृति की चेतनता को स्वीकार करती ही है, लेकिन भौतिकवादी दृष्टि भी यह मानती है कि मानवीय चेतना के विकास और निर्धारण मे इस जड़ प्रकृति की भी एक निर्णायक भूमिका है। वैज्ञानिक अपने रास्ते से इस प्रभाव को समझने का प्रयास करता है, इस कारण साहित्यकार के लिए यह कम जरूरी नही हो जाता कि वह भी अपने रास्ते से इस प्रक्रिया मे निहित सत्य को अनुभव करने की दिशा मे सजग हो। केवल साहित्यकार के लिए ही यह सम्भव है कि वह प्रकृति को एक जड़ वस्तु के रूप मे न देख कर एक सजीव, सचेतन, स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे अनुभव कर सके—केवल मानवीय भावनाओं की संवाहिका के रूप में नही बल्कि एक ऐसी स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे जिसके स्वतन्त्र आशय हैं और जो मानवीय जीवन की चेतना और व्यवहार दोनो ही स्तरो पर आकर्षित और प्रभावित करती है।

किसी कवि ने कहा है कि 'सरोवर के पानी मे झाँक कर जो घास और शैवाल देखता है, वह भगवान का मुँह देखता है और जो अपनी परछाई देखता है, वह एक मूर्ख का मुँह देखता है।' मैं ठीक यही तो नही कहता लेकिन यह जरूर कहता हूँ कि अपनी परछाई के पीछे घास, शैवाल और जल को न देखना निश्चय ही सरोवर को देखना तो नही है। इसलिए जहाँ प्राकृतिक परिवेश मे अपने को पहचानना है वही यह भी जरूरी है कि इस परिवेश मे और स्वय अपने मे भी प्रकृति को पहचानें। विज्ञान जिस प्रकार प्रकृति को एक स्वतन्त्र सत्ता मानता हुआ अपने रास्ते से किसी सत्य तक पहुँचता है, उसी प्रकार साहित्यकार भी प्रकृति को एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे अनुभव करता हुआ मानवीय आशयो से परे किसी बृहत्तर सत्य तक पहुँच सकता है और इस प्रक्रिया में मानव की अपनी पहचान भी सम्भवत: अधिक गहरी और अधिक व्यापक हो सकती है। विज्ञान प्रकृति से जिस प्रकार तथ्यात्मक ज्ञान प्राप्त करता है, उसी प्रकार साहित्यकार भी संवेदनात्मक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। प्रकृति दोनो के लिए ज्ञान का स्रोत है यद्यपि दोनो के रास्ते और पद्धति बिल्कुल अलग हैं। प्रकृति का यह स्वरूप साहित्य मे कम प्राप्त होता है—और जब होता है तो अधिकांशत: तथ्यात्मक मनोरम चित्रण के रूप मे ही—जबकि क्लासिकी और आधुनिक दोनो ही प्रकार के लेखको से इसकी अपेक्षा अधिक की जा सकती है। सभवत: ताओ दृष्टि से प्रभावित काव्य मे प्रकृति की यह

पहचान साफ देखी जा सकती है। हिन्दी काव्य में यत्र-तत्र ही इस प्रवृति के प्रमाण मिल सकते है जहाँ प्रकृति एक स्वतन्त्र चरित्र के रूप में स्थापित होती है।

कभी-कभी लगता है कि प्राकृतिक परिवेश का एक स्वतन्त्र चेतन सत्ता, एक जीवित चरित्र के रूप में अनुभव और मानवीय चेतना और जीवन के साथ उस के सवेदनात्मक रिश्ते की सही पहचान आधुनिक काल में गद्य साहित्य में अधिक सम्भव हो सकती है—शायद इसलिए कि गद्य लेखक से, एक उपन्यासकार या नाटककार से अपेक्षाकृत अधिक तटस्थ हो सकने की उम्मीद की जा सकती है। आधुनिक गद्य में इस प्रवृति के कुछ उदाहरण प्राप्त होते भी हैं। हार्डी के कुछ उपन्यासों में प्राकृतिक परिवेश एक जीवित चरित्र की हैसियत ले लेता है। 'रिटंन ऑफ द नेटिव' में 'एगडन हीथ' उपन्यास का केन्द्रीय पात्र है और उसे केन्द्र में रखे बिना सारा कथानक बुना ही नही जा सकता। कुछ लोग इस प्रवृति को आँचलिकता कह कर टाल सकते है—लेकिन यह उस से कही गहरी बात है क्योकि इस का उद्देश्य किसी अँचल के जीवन का प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत कर देना ही नही बल्कि प्राकृतिक परिवेश और मनुष्य के सम्बन्ध में निहित सत्य को संवेदनात्मक स्तर पर उजागर करना है। हिन्दी गद्य लेखन में यह पहचान हमें नही दीखती और यह आश्चर्यजनक है क्योकि प्रकृति की जीवन्त सत्ता और उसके विभिन्न उपकरणो—पहाड़ों, पेडों, नदियों और पत्थरो तक—को स्वतन्त्र चरित्र के रूप मे पहचानने की एक परम्परा हमारे सामाजिक-धार्मिक जीवन में रही है। वास्तव मे देखा जाये तो रेणु के साहित्य में लोक-गन्ध होते हुए भी प्राकृतिक परिवेश कुछ अंशो मे सिर्फ 'परती परिकथा' में ही यह हैसियत प्राप्त कर सका है। 'मैला आँचल' मे एक बदलते गाँव की कथा जरूर है लेकिन यह कही पता नही चलता कि उस गाँव के विशिष्ट चरित्र या आकांक्षा का उसके प्राकृतिक परिवेश से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध है—कुछ ऐसा है जो सिर्फ उसी प्राकृतिक परिवेश का है। निर्मल वर्मा के कथासाहित्य मे हम ऐसा कुछ तलाश करना चाह सकते है क्योकि बहुत सी कहानियों मे वे पहाड़ या मौसम के वर्णन के माध्यम से भी कहानी को कहते हैं लेकिन यह वर्णन अधिकांशतः प्रकृति को उद्दीपक की तरह ही प्रस्तुत करता है। हिन्दी के बहुत से लेखक पहाड़ी या रेगिस्तानी इलाके या विभिन्न नदियों के अन्तरंग इलाको से आये हैं, प्रकृति वर्णन का अभाव भी उन में नही है लेकिन यह समझना मुश्किल है कि एक स्वतन्त्र सत्ता या चरित्र के रूप में प्रकृति और मानवीय

जीवन को लेकर एक भी ऐसी कृति क्यो नही दीखती जिसकी तुलना हेमिंग्वे की 'ओल्ड मैन एंड द सी', स्टीनबेक की, 'ग्रेप्स ऑफ द रेथ' और 'द पर्ल' या जापानी साहित्य मे कावाबाता की 'साउंड ऑफ द माऊटेन' और 'स्नो कंट्री' तथा कोबो ऐबे की 'दि वूमन इन दि ड्यूनस' जैसी कृतियो से की जा सके। इसका तात्पर्य यह कही नही है कि हिन्दी में श्रेष्ठ रचनाओ का अभाव है या उन्हें विदेशी कृतियों के समकक्ष नही रखा जा सकता। मैं फिलहाल प्राकृतिक परिवेश के साथ एक विशेष प्रकार के रिश्ते को लेकर लिखी गयी कृतियो के सन्दर्भ की परिधि में ही अपनी बात रख रहा हूँ।

जैसा कि मैं ने पहले भी कहा कि आधुनिक युग में यह सिर्फ साहित्य या कला में ही सम्भव है कि हम प्रकृति को एक वस्तु या वातावरण की तरह नहीं एक स्वतन्त्र सत्ता और चरित्र की तरह अनुभव कर सकें। यह प्रकृति पर किसी तरह का एहसान नही है। कुछ लोग प्राकृतिक परिवेश की रक्षा उपयोगितापरक या नैतिक आग्रहो के आधार पर करना चाहते हैं, उनके उद्देश्य से हमारी सहानुभूति है। लेकिन इसीलिए यदि वे साहित्यकार से भी यह उम्मीद करते हैं कि वह इन आग्रहो को अपने साहित्य के सरोकार के रूप मे स्वीकार करे तो हम उन के साथ नही हैं। कोई उपयोगितापरक या साहित्येतर नैतिक आग्रह साहित्य की प्रेरणा नही हो सकता। लेकिन प्राकृतिक परिवेश को भी चेतन अस्तित्व, एक जीवित चरित्र की तरह पहचानने की अपेक्षा यदि हम साहित्यकार से करते हैं तो उसके पीछे कोई नैतिक नही, साहित्यिक आग्रह ही है क्योकि साहित्य सत्य की संवेदनात्मक पहचान है और प्रकृति—जो एक ठोस वास्तविकता है—में से गुजरे बिना यह पहचान अधूरी और शायद इसलिए विकृत भी रहती है। आधुनिक जीवन की बहुत सी विकृतियो का एक कारण क्या यही नही है कि प्रकृति के साथ हमारे रिश्ते का अहसास अस्तित्वगत रहने की बजाय उपयोगितापरक होता जा रहा है?

वत्सल निधि द्वारा आयोजित आबू शिविर मे पढ़ा गया आलेख

यथार्थ से साक्षात्कार का अर्थ

कुछ समय पूर्व एक ऐसी साहित्यिक गोष्ठी मे भाग लेने का अवसर मिला जिसका विषय था 'मेरी पसन्द का साहित्य'। गोष्ठी के अधिकांश सहभागी नवोदित लेखक थे और यह सवाल उनके सम्मुख रखते हुए स्पष्ट कर दिया गया था कि अपने वक्तव्य में वे न केवल अपनी पसन्द की साहित्यिक कृति का उल्लेख करें बल्कि यह भी बतायें कि उन्हें वह कृति किस कारण पसन्द है। दूसरे शब्दों मे इन वक्तव्यो के माध्यम से यह जान लेने की आशा की जा सकती थी कि किन गुणों या विशेषताओं के कारण कोई रचना पाठक पसन्द करते हैं। साहित्यिक मूल्यांकन की पारिभाषिक शब्दावली और शास्त्रीय व्याख्याओ से अलग यह रास्ता इसलिए भी अधिक अच्छा लगा कि इसमे उत्तर देने वाले से किसी पांडित्य की अपेक्षा नही थी, उसे साहित्य के एक सामान्य पाठक के रूप मे ही अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करनी थी। करीब चार वर्ष पूर्व भी एक ऐसी ही गोष्ठी मे भाग लेने का अवसर मुझे मिला था, अतः इस गोष्ठी के उत्तर सुनते हुए मेरी स्मृति में पूर्व गोष्ठी मे हुई बातें उभर रही थी—उस गोष्ठी मे कुंअरनारायण, गिरिराजकिशोर, अज्ञेय, रमेश चन्द्र शाह, विद्यानिवास मिश्र आदि कई कृतिकारों के साथ स्व. साही भी थे। उन्होने जायसी को अपनी पसन्द का लेखक बताते हुए उस के कारणों का सांगोपांग विश्लेषण किया था। इन दोनों ही गोष्ठियों में जो वक्तव्य दिये गये उनका सारांश आश्चर्यजनक रूप से इतना मिलता जुलता था कि यदि हम चाहें तो दोनों को एक ही गोष्ठी कह सकते है।

यह बहुत आश्चर्यजनक लगता है कि इन गोष्ठियो मे भाग लेने वाले वक्ताओ ने अपनी-अपनी पसन्द की जिन कृतियो और लेखको का उल्लेख किया उन में तो काफी वैविध्य था—बल्कि कई को तो एक-दूसरे के विरोधी समझे जाने वाले साहित्यिक सम्प्रदायों से सम्बन्धित मानाज ाता रहा है—लेकिन अलग-अलग वक्ताओं ने उन्हे पसन्द करने के जो कारण बताये उन में काफी हद तक एकरूपता थी। इस से यह बात भी स्पष्ट हुई कि एक ही साहित्यिक सिद्धान्त

सामाजिक दृष्टिकोण के लिहाज से भिन्न दिशाओं की ओर भी ले जा सकता है।

अपनी पसन्द के कारणो का विश्लेषण करते हुए अधिकांश वक्ताओ ने बताया कि साहित्य का एक बुनियादी काम यथार्थ से साक्षात्कार करना है। कुछ लोगो ने इसी बात को 'अपने समय से साक्षात्कार' कहा तो कुछ अन्य लोगो ने इसे 'मानवीय नियति से साक्षात्कार' कहना अधिक पसन्द किया। यथार्थ की परिभाषा और उस के प्रति दृष्टिकोण की विविधता और भिन्नता के बावजूद सभी लोगो का यह मानना कि साहित्य यथार्थ से साक्षात्कार करता है, इस बात का प्रमाण था कि साहित्यिक श्रेष्ठता न भी कहें तो साहित्य को पसन्द किये जाने का एक आधार स्पष्ट है। लेकिन पसन्द के इस कारण के विश्लेषण में और भी कई सवाल उठते हैं।

पहला सवाल तो यही है कि यथार्थ या मानवीय नियति से साक्षात्कार का काम क्या केवल साहित्य ही करता है? क्या विज्ञान या अन्य मानविकी विद्याएँ भी अपने-अपने तरीके से यथार्थ को जानने की, मानवीय नियति को समझने और उसे बदलने की भी कोशिश नही करती? यदि यह मान लें कि सभी विद्याएँ और मानवीय कर्म यथार्थ से साक्षात्कार करते हैं तो साहित्य का वैशिष्ट्य क्या है? दूसरे शब्दो में, वह क्या चीज़ है जो हम सिर्फ साहित्य में से गुज़रने पर ही जान सकते है और जो अन्य प्रकार से सम्भव नही है—क्योकि यदि ऐसा नही है तो साहित्य का एक अलग अनुशासन के रूप मे क्या औचित्य बच रहता है?

साहित्य और यथार्थ के सम्बन्ध को लेकर हुई सभी बहसों मे इस बात पर लगभग आम स्वीकृति रही है कि साहित्य का एक बुनियादी काम यथार्थ को सम्प्रेषित करना है। इस स्वीकृति में तब क्या यह प्रतिज्ञा भी अन्तर्निहित नही है कि यथार्थ का अस्तित्व साहित्य से बाहर कही है और साहित्य का काम उसे इस तरह जस का तस प्रस्तुत कर देना है कि वह सवेदनात्मक स्तर पर सम्प्रेषित हो सकें? दूसरे शब्दो मे, इस का तात्पर्य यह हुआ कि साहित्यक कर्म की सत्ता, उस का औचित्य और प्रासंगिकता ऐसे यथार्थ से जुड़े होने मे है जिसका अस्तित्व उस से बाहर कही है। साहित्यकार उस यथार्थ की विविध व्याख्याओ और उस के प्रति अपनाये गये विविध दृष्टिकोणो में से किसी को भी चुनने के लिये स्वतन्त्र है, लेकिन वह अनिवार्यतया उसी से बद्ध है, उसकी

सर्जनात्मकता उस से नियमित है। स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण साहित्य के स्वायत्त अस्तित्व का अतिक्रमण करता है और साहित्यिक सर्जनात्मकता को सम्प्रेषण के लिये उपयुक्त युक्तियो की तलाश तक सीमित कर देता है। तब यह भी अस्वाभाविक नही लगता कि कुछ लोग इन युक्तियों का प्रयोग साहित्येतर प्रयोजनो को पूरा करने के लिये भी करने लगें। साहित्य का प्रयोजन यदि उस के अस्तित्व से बाहर है तो इतर उद्देश्यों के लिये उस के प्रयोग को अनुचित कैसे कहा जाय ?

इस सवाल को हल करने में हम विज्ञान की जानकारी का भी लाभ उठा सकते हैं। बीसवी शताब्दी में विज्ञान जिन कुछ अजीब से निष्कर्षों पर पहुँचा है उन मे से एक यह भी है कि यथार्थ की जस की तस पहचान सम्भव ही नही है। जिस किसी भी माध्यम से हम यथार्थ को ग्रहण करते हैं उस माध्यम की अपनी प्रकृति यथार्थ के हमारे ग्रहण को, हमारी पहचान को अनिवार्यतः प्रभावित करती है। इसलिए हम जो कुछ ग्रहण करते हैं वह कोई निरपेक्ष यथार्थ नही बल्कि हमारे माध्यम की प्रकृति से रूपान्तरित यथार्थ होता है। इस प्रकार यथार्थ की हमारी पहचान की प्रक्रिया दरअसल यथार्थ के सर्जन की प्रक्रिया हो जाती है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि जब भी हम यथार्थ की कोई नयी पहचान, यथार्थ के प्रति किसी नयी दृष्टि का अनुभव करते है तो वास्तव मे समूचे यथार्थ का, यथार्थ के हमारे नये बोध का सर्जन कर रहे होते हैं। यह बात जितनी विज्ञान के बारे में सच है उतनी ही अन्य अनुशासनों के बारे मे भी। विज्ञान का एक नया निष्कर्ष समूचे प्राकृतिक विश्व को हमारे लिये नया कर देता है और किसी कलाकृति से साक्षात्कार के बाद भी तो हम और हमारा बोध ठीक वही नही रह जाता। हम केवल यथार्थ की नयी पहचान ही नही करते, स्वयं भी नये सिरे से रचे गये हो जाते है। कला या साहित्य की किसी भी विधा में कोई रूपगत परिवर्तन इसीलिए केवल कला-प्रयोग नही रहता, वह साहित्य या कला के माध्यम से हमारे सम्पूर्ण यथार्थ-बोध की नयी रचना कर देता है। बीसवी शताब्दी के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिको में से एक विट्गेंस्टाइन का निष्कर्ष है कि हमारी भाषा की संरचना ही यथार्थ की हमारी सरचना को निर्धारित करती है। यह निष्कर्ष उस वैज्ञानिक निष्कर्ष से मिलता-जुलता है जिसके अनुसार यथार्थ की हमारी पहचान अनिवार्यतः माध्यम से प्रभावित होती है। भाषा केवल सूचनात्मक ही नही होती, वह विचार, अनुभव

और चेतना के विकास का माध्यम भी है। उसकी सर्जनात्मक सम्भावनाएँ असीम है और उस में नये-नये रूपाकारों की रचना सम्भव है। यह मानने पर हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि साहित्य के विविध रूप भाषा मे निहित अर्थ-रूप की सम्भावनाओं के आधार पर विकसित होते हैं और इन विधाओं का हर नया रूप यथार्थ की नयी रचना करता है। इसका सीधा तात्पर्य यह है कि साहित्यकार किसी पूर्व निर्धारित यथार्थ को अभिव्यक्त नही करता बल्कि भाषा के अपने स्वभाव के निर्देशानुसार उसी मे अर्थ की तलाश करता है। इसलिए साहित्य का प्रयोजन किसी साहित्येतर यथार्थ की प्रस्तुति करना नही है—उसका केन्द्रीय सरोकार साहित्यिक यथार्थ से है जो स्वयं मे एक विशिष्ट अनुभव है और यह अनुभव केवल साहित्य-रूप मे से गुजरने पर ही सम्भव है।

साहित्य में स्थूल ब्यौरो की विश्वसनीयता इसीलिए साहित्य की विश्वसनीयता की कसौटी नहीं मानी जाती। यह निर्विवाद है कि ब्यौरो या घटनाओ का क्रम साहित्यिक रचना की सर्जनात्मक आवश्यकता के अनुरूप निर्धारित होता है क्योंकि उन का प्रयोजन रचना के विकास में सहायक होना है। ऐसा न होने पर उनका यथा-तथ्य विवरण न केवल व्यर्थ बल्कि रचना के सम्प्रेषण में बाधक सिद्ध होता है। इसी से जाहिर है कि बाहरी यथार्थ को साहित्य में तब तक कोई जगह नहीं है जब तक वह रचना के किसी आन्तरिक प्रयोजन को पूरा नही करता हो। फैंटेसी जैसी विधियों की साहित्यिक अनिवार्यता इसी बात को प्रमाणित करती है कि न केवल यथार्थ स्थूल विश्वसनीयता से मुक्त है बल्कि कई बार इस तरह की विश्वसनीयता का अतिक्रमण किये बिना यथार्थ के कई रूपों और स्तरो की पहचान सम्भव ही नही है।

सच तो यह है कि केवल विविध साहित्यिक विधाएँ ही नही बल्कि विभिन्न साहित्यिक शैलियो के यथार्थ तक पहुँचने के अलग-अलग रास्ते हैं और उन के कलात्मक परिणाम भिन्न होते हैं। इस बात को तो लूकाच जैसे मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तक भी स्वीकार करते हैं। और तब यह भी स्पष्ट है कि इन विविध विधाओ और शैलियो के माध्यम से यथार्थ के जो स्वरूप उजागर होंगे उन में भी किसी न किसी प्रकार की विशिष्टता और विविधता अवश्य होगी। इसलिए यदि हम यह मान लें कि साहित्य का काम यथार्थ से हमारा साक्षात्कार

करवाना है तो यह भी मानना होगा कि यह इस किस्म का साक्षात्कार होगा जो अन्य किसी प्रकार से सम्भव नहीं होगा। इसलिए प्रत्येक साहित्य रचना यथार्थ के एक विशिष्ट पहलू और स्तर से हमारा साक्षात्कार करवाती है और यह अपने में एक अद्वितीय अनुभव होता है क्योंकि वैसा अन्य किसी साहित्य रचना के माध्यम से भी—दूसरे अनुशासनों की तो बात छोड़ ही दें—सम्भव नहीं है। साहित्य को पढ़ते हुए हमें यदि कई बार एक उद्घाटन का, एक 'डिस-कवरी' के आनन्द का-सा अनुभव होता है तो इसका कारण यही है। इस से यह भी जाहिर हो जाता है कि किसी भी साहित्य रचना को वास्तविक अर्थों में सर्जन तभी कहा जाना चाहिए या उसकी उत्कृष्टता का निर्धारण इसी आधार पर किया जाना चाहिए कि वह किसी पूर्वनिर्धारित यथार्थ को सम्प्रेषित करने की बजाय यथार्थ के किसी नये स्वरूप का सर्जन कर सकने में समर्थ है या नहीं। 'यथार्थ से साक्षात्कार' का साहित्यक तात्पर्य यही हो सकता है।

यथार्थ, रचना और सम्प्रेषण

कहानी-पत्रिका 'सारिका' ने अभी एक प्रतियोगिता का आयोजन किया। निर्णायक थे भीष्म साहनी, गोविन्द मिश्र, कन्हैयालाल नन्दन और मन्नू भंडारी। नन्दन एक सम्पादक हैं और शेष तीनों हमारे दौर के महत्वपूर्ण कहानीकार हैं। इन निर्णायकों ने प्रतियोगिता में सम्मिलित ढेरों कहानियाँ पढ़ने के बाद जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किये हैं उन्हें निश्चय ही प्रामाणिक माना जाना चाहिए। इन प्रतिवेदनों की प्रामाणिकता इसलिए और भी बढ़ जाती है कि कुछ बिन्दुओं पर चारों ही निर्णायकों के निष्कर्ष समान हैं। निष्कर्षों की यह समानता इसलिए और अधिक उल्लेखनीय हो जाती है कि इन चारों निर्णायकों की साहित्य-दृष्टि और विश्वासों-आस्थाओं में काफी मत-वैभिन्य है।

चारों ही निर्णायकों के अलग-अलग प्रतिवेदनों को पढ़ने से जो सर्वसम्मत निष्कर्ष निकलते हैं, वे जहाँ निराश करते है, वहीं चेतावनी भी देते हैं। इसलिए उन पर अलग से विचार-विमर्श की आवश्यकता है। सभी निर्णायकों ने यह तो स्वीकार किया है कि 'मनुष्य की चेतना और समूचे अस्तित्व को झकझोर देने वाला शोषण और अन्याय ही इन सारी कहानियों का मुख्य सरोकार है', लेकिन सभी ने यह शिकायत भी की है कि कलात्मक स्तर पर कहानियाँ कमजोर हैं और 'भावना के स्तर पर कहानियों में मार्मिकता कम है, तथा कल्पना की उड़ान रचनात्मक अर्थों में भी कम नज़र आती है।' जिन कहानियों को पुरस्कृत किया गया है उन का विश्लेषण करते हुए प्रतिवेदनों में जो कुछ कहा गया है वह भी कथ्यगत ही अधिक है– किसी भी कहानी के कलात्मक या सर्जनात्मक वैशिष्ट्य का उल्लेख कहीं नहीं है। इस से क्या यह अनुमान लगाया जाये कि इन पुरस्कृत कहानियों में भी कलात्मक स्तर पर कुछ उल्लेखनीय घटित नहीं होता, अथवा यह कि निर्णायक भी सैद्धान्तिक स्तर पर तो कलात्मकता या रचनात्मकता को अनिवार्य मानते हैं लेकिन अपने व्यावहारिक विश्लेषण में उस की अनदेखी कर जाते हैं? कोई रचना

शोषण और अन्याय के विरुद्ध है, यह तो उसे पढकर एक सामान्य पाठक भी जान सकता है। निर्णायक या मूल्यांकन करने वाले के लिए तो यह बताना ज्यादा जरूरी होना चाहिए कि उस कहानी को कलाकृति या रचना का वैशिष्ट्य देने वाली बात कौन सी है।

हमारे लिए ये निष्कर्ष चिन्ता के विषय है। ऐसा क्यो है कि एक पूरी पीढी की प्रतिनिधि रचनाओ मे 'शिल्प के प्रति लापरवाही' है? ऐसा क्यो लगता है कि 'अपने आसपास के परिवेश' को रचनात्मक स्तर की बजाय 'पत्रकारिता के स्तर पर ग्रहण और अभिव्यक्त' किया जा रहा है? क्या इसकी जिम्मेदारी काफी हद तक उस साहित्यिक वातावरण की भी नही है जिस मे सारा जोर कथ्य– और वह भी एक विशेष दृष्टिकोण– पर ही केन्द्रित होता जा रहा है, कलात्मकता या शिल्प को धीरे-धीरे एक गैरजरूरी चीज की तरह समझा जाने लगा है और उसकी बात करने वालो या उस की ओर ध्यान आकर्षित करवाने वालों को कलावादी (!) कह कर उपेक्षित करने की कोशिश की जा रही है? स्पष्ट है कि ऐसा करने वाले लोग वे हैं जो रचनात्मकता, सृजनशीलता या कला की बजाय किसी बात या विचार की अभिव्यक्ति को– और कभी-कभी उस के प्रचार को– अधिक महत्व देने का दावा करते है। साहित्य या कोई भी कलारूप तब विचार या कथ्य का 'गरीब रिश्तेदार' बन कर रह जाता है– उसकी अपनी स्वतन्त्र इयत्ता समाप्त हो जाती है। इस का यह तात्पर्य नही है कि विचार या कथ्य का कोई महत्त्व नही है—लेकिन यह भी तय है कि रचनात्मकता या कलातत्त्व के बिना वह कलाकृति नही बनता। विचार तो कलाकृति से बाहर भी प्राप्त हो सकता है, लेकिन कला को और किसी तरह से प्राप्त नही किया जा सकता।

कोई भी कहानी, कविता या ऐसा ही अन्य कुछ यदि केवल विचार, भाव या अनुभूति का सम्प्रेषण है तब तो इन कहानियो को लेकर कलात्मकता की शिकायत होनी ही नही चाहिए क्योकि निर्णायकगण यह तो समझ ही रहे हैं कि लेखक क्या कहना चाहता रहा है। इसका तात्पर्य है कि सम्प्रेषण तो हो ही रहा है और यदि शिल्प का उद्देश्य केवल मूलभाव, विचार या अनुभूति का सम्प्रेषण है तो इतना शिल्प तो वहां है ही। इसके बावजूद यदि सोद्देश्य साहित्य के समर्थकों को भी कलात्मकता की कमी की शिकायत होती है तो स्पष्ट है कि वे भी साहित्य और कला की मूल प्रेरणा कहीं और ही मानते हैं, चाहे उनकी घोषणाएँ कुछ भी कहती रहे। यह तो सम्भव है कि अपने विरोधी

दृष्टिकोण के साहित्य को वे अपने दृष्टिकोण के साहित्य से घटिया बतायें, लेकिन इस से उन की वास्तविक कलादृष्टि का परिचय नहीं मिलता—हाँ, उन की सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि के बारे मे जरूर पता चल जाता है। उनकी वास्तविक कलादृष्टि का पता तभी चलता है जब वे एक ही दृष्टिकोण की बराबर समर्थक दो रचनाओ मे से किसी एक की श्रेष्ठता का निर्धारण करें। तब उनकी कसौटी कलात्मक प्रतिमान ही होते है। इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि वे चाहे अपने कथ्य को कला से अधिक महत्त्व देने का दावा करते रहें, लेकिन जब कला के अपने मूल्यांकन की बात होती है तो वे भी प्रकारान्तर से कलात्मक प्रतिमानो को ही मूल्याकन का आधार बनाते हैं। एक ही थीम को लेकर लिखी गयी दो कहानियो मे यदि एक कहानी अधिक श्रेष्ठ और प्रभावी होती और दूसरी उस स्तर पर नही पहुँच पाती तो इसका मूल कारण कहानी की शैल्पिक श्रेष्ठता मे ही निहित होता है।

जो लोग साहित्य या किसी कलारूप को अनुभव या विचार की अभिव्यक्ति या सम्प्रेषण मानते हैं, वे गलत न होते हुए भी पूरे सही नही माने जा सकते। साहित्य या कला सम्प्रेषण भी अवश्य है, लेकिन वे केवल सम्प्रेषण नही है—वह किसी विचार या भाव या अनुभव की अभिव्यक्ति मात्र ही नही है। इसलिए शिल्प केवल कथ्य के सम्प्रेषण तक ही सीमित नही है। प्रत्येक साहित्यिक रचना या कलाकृति मूलतः और सर्वप्रथम एक सृजन है, रचना है। वह यदि सम्प्रेषण या अभिव्यक्ति भी है तो किसी विचार या अनुभव को नही बल्कि एक रचना या सृजनकर्म की अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण है। यदि किसी कहानी, कविता या अन्य विधा की वस्तु में इस रचनात्मकता का, सृजनशीलता का अभाव है तो उस मे चाहे कितना ही महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्र कह दिया गया हो, वह कला का दर्जा नही प्राप्त कर सकती और इसलिए कला-विचार मे उसे खराब कला ही कहा जायेगा।

खराब कला, दरअस्ल, दो स्थितियो मे पैदा होती है. एक तो वहाँ जहाँ शिल्प के प्रति लापरवाही की प्रवृत्ति हो और दूसरे वहाँ जहाँ शिल्प को कथ्य से अलग एक बाहरी वस्तु की तरह इस्तेमाल किया जाये। एक जगह शिल्प का न होना किसी अनुभव को रचना नही बनने देता तो दूसरी जगह शिल्प को कृति से अलग मान लेना—बल्कि शिल्प के उपकरणों को ही शिल्प मान लेना—अनुभव और शिल्प को एक दूसरे पर थोपने की कोशिश करना है। प्रत्येक

कलाकृति अनुभव को एक आकृति देती है। शिल्प के उपकरण उस आकृति को उभारते हैं। वह उभार ही शिल्प है—उपकरण शिल्प नहीं है—और इस-लिए वह अपने होने की घोषणा अलग से नहीं करता। यह शिल्प ही है जो हमारे दैनन्दिन अनुभवों को नया और ताज़ा बना देता है, उन्हें बहुआयामी और अर्थगर्भ बनाता है। इस के बिना अनुभव रचना नहीं हो पाता। इस-लिए रघुवीरसहाय का यह कथन सही जान पड़ता है कि "मेरे पास एक तरह की एक और-एक अतिरिक्त-चेतना है, एक अतिरिक्त व्यथा है जिससे कि मैं हर चीज को फिर से उलट-पुलट कर, नये ढंग से सजा कर, नये ढंग से दुरुस्त करके और नया बना देने की इच्छा रखता हूँ। तो वही तो शिल्प है। और मैं यह मानता हूँ कि जितनी देर तक मुझे यह अहसास है कि यह शिल्प आवश्यक है-मेरे लिये-उतनी देर तो मैं लेखक हूँ, और बाकी जगहों पर मैं लेखक नही हूँ-यद्यपि मैं उतना ही महत्त्वपूर्ण काम कर रहा होऊँगा जितना कि लेखक कर सकता है या लेखक को करना चाहिए।"

उपर्युक्त प्रतियोगिता के निर्णायकों के प्रतिवेदन मे एक और महत्त्वपूर्ण शिकायत कल्पना की रचनात्मक उड़ान और मार्मिकता के अभाव की है। यह शिकायत भी वास्तव में कलात्मकता के अभाव की शिकायत का ही दूसरा रूप है क्योंकि कलात्मकता के अभाव में ही रचना सपाट विवरण बन कर रह जाती है और मार्मिक नही हो पाती।

बहुत सम्भव है कि इस सारी बात को भी रूपवाद या कलावाद कहकर उपेक्षित कर दिया जाये। लेकिन हर रचना सर्वप्रथम एक रूप होती है और इसलिए उसके सम्प्रेषण का प्रथम स्तर भी रूप का ही स्तर है—यदि इसी स्तर पर रचना खारिज हो जाती है तो दूसरे स्तरों तक घिसट कर भी नही जा सकती। कोई टी. एस. एलियट के हवाले से कह सकता है कि अच्छी रचना और महान रचना मे अन्तर होता है। लेकिन इस बात पर गौर करना भी उतना ही जरूरी है कि महान रचना कभी भी खराब रचना नही हो सकती और साथ ही यह भी कि उस की महानता उस मे अभिव्यक्त होते नैतिक आशयो मे होती है—यहाँ जान बूझकर 'आध्यात्मिक' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा रहा—उसकी राजनीतिक-सामाजिक विचारणा में नहीं।

स्पष्ट है कि जब तक हम कला को कोई स्वतन्त्र सर्जनकर्म न मानकर उसे अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र मानते रहते हैं, तब तक वह अधिक से अधिक

कभी-कभी एक प्रभावी कथन हो सकती है, रचना नही। यदि वह रचना होती है तो अनिवार्यतः एक रूप भी होती है। इसलिए कलाकार में यह सृजनचेतना मूल तत्त्व है—यही उसकी प्रेरणा और यही उस के मूल्यांकन का प्रमुख आधार है। इस सृजनचेतना के अभाव मे वह एक संवाहक मात्र है, रचनाकार नही। किसी ने ठीक ही कहा है कि हम ब्रेख्त को उन के विचारो के कारण नही बल्कि नाटक की कला में उन के योगदान के कारण याद करते हैं। हमारे रचना जगत में इस बात की अनदेखी करना निश्चय ही चिन्ताजनक है और इस कहानी प्रतियोगिता के निर्णायक साधुवाद के पात्र हैं कि उन्होने एक सही अवसर पर इस बात की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा की।

आलोचक की वापसी

अभी कुछ दिन पूर्व भोपाल मे आयोजित कवि-समागम मे डॉ. नामवर सिंह ने अपने वक्तव्य मे कहा कि 'कविता की वापसी' सही अर्थ मे तभी होगी जब कविता मे 'लिरिक' की वापसी हो सकेगी। 'लिरिक' के समर्थन में उन्होने लूकाच की गवाही भी प्रस्तुत की और साथ ही यह सूचना भी दी कि विख्यात कवि डॉ. केदारनाथ सिंह इस दिशा मे सचेष्ट हैं। लेकिन उपस्थित कवियो के सम्मुख यह स्पष्ट नही हो सका कि 'लिरिक' से डॉ. नामवर सिंह का तात्पर्य क्या है। कवि रघुवीर सहाय की माँग थी कि डॉ. नामवर सिंह को अपना तात्पर्य लिख कर स्पष्ट करना चाहिए क्योंकि, 'अनुभव से कह सकता हूँ कि जब तक लिखा हुआ न हो, नामवर जी का विचार समझने मे आदमी धोखा खा सकता है।' कुछ लोग 'लिरिक' को गाने के उद्देश्य से लिखी रचना या 'गीत' समझने की भूल कर सकते हैं यह सोच कर रघुवीर सहाय ने स्पष्ट भी कर दिया कि 'लिरिक' और 'गान' मे अन्तर है तथा 'लिरिक' का अर्थ 'यूरोपीय भाषाओं मे कविता होना है, गीत नहीं।' तो क्या डॉ. नामवरसिंह यह सोचते हैं कि अभी तक जो कुछ लिखा जाता रहा है वह कविता नही है ? सच तो यह है कि 'लिरिक' की वापसी का आग्रह करते हुए यदि लूकाच और केदारनाथ सिंह का हवाला नही दिया गया होता तो मेरे जैसे कई लोगों को, जो नामवर सिंह के नियमित पाठक हैं, यही लगता कि वह 'कविता की वापसी' पर व्यंग्य कर रहे हैं। लेकिन अब उनका यह आग्रह 'आलोचकीय विडम्बना' लगता है क्योंकि भोपाल मे चाहे उन्होने लिखकर न भी बताया हो पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कविता के नये प्रतिमान' में वह न केवल 'लिरिक' का तात्पर्य स्पष्ट कर चुके हैं बल्कि समकालीन संवेदना की दृष्टि से उसे खारिज भी कर चुके हैं।

चार वर्ष पहले कविता की वापसी की बात बहुत उछाली गयी पर वस्तुत: वह एक भ्रामक नारा ही था। अधिक से अधिक उसे 'कविता का प्रकाशन विस्तार' कह सकते हैं क्योंकि उस एक वर्ष में कविता-संग्रह निश्चय ही सामान्य से बहुत

अधिक छपे—पर इसी से यह भी स्पष्ट है कि वे सभी कविताएँ उसी वर्ष नहीं लिखी गयी थी बल्कि पिछले दस-पन्द्रह वर्षों मे लिखी जाती रही थी। लेकिन डॉ नामवर द्वारा 'लिरिक' की वापसी का आग्रह निश्चय ही विचार की अपेक्षा रखता है।

पहले तो अंग्रेजी शब्द की अनिवार्यता से बचने के लिए यह स्पष्ट कर लेना ज़रूरी है कि 'लिरिक' से डॉ. नामवर का तात्पर्य 'प्रगीत' से है और प्रगीत को वह आत्मपरक कविता मानते हैं। उनकी पुस्तक 'कविता के नये प्रतिमान' मे सैद्धान्तिक स्थापना की दृष्टि से दो अध्याय बहुत महत्वपूर्ण हैं. 'काव्यबिम्ब और सपाट बयानी' तथा 'काव्य संरचना : प्रगीतात्मक और नाटकीय'। पहले अध्याय मे उन्होंने काव्यभाषा मे बिम्ब पर सपाटबयानी को तरजीह दी ('सपाटबयानी' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अशोक वाजपेयी ने श्रीकान्त वर्मा की कविताओ पर लिखते हुए किया था)—और बिम्ब मोह के टूटने का कारण बढती हुई सामाजिक विषमता को माना तथा उसकी सर्जनात्मक अनिवार्यता को रेखांकित करते हुए केदारनाथ सिंह के ही हवाले से यह तर्क दिया कि उन जैसे बिम्बवादी कवि भी सपाटबयानी का आग्रह करने लगे है। तब डॉ. नामवर का निष्कर्ष था कि बिम्बो के भटकाव से रोकने मे 'सपाटबयानी का व्यंग्य-पूर्ण और नाटकीय अन्दाज़ सहायक होता है।' इसलिए स्वाभाविक था कि काव्य-सरचना से सम्बन्धित अध्याय मे नामवर ने नाटकीय संरचना का आग्रह करते हुए प्रगीतात्मक सरचना को खारिज-सा कर दिया था।

छोटी कविता और लम्बी कविता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ. नामवर सिंह ने विटर्स के हवाले से यह स्वीकार किया था कि यह अन्तर केवल आकार का नही है बल्कि संरचनात्मक है जिसके पीछे दो काव्य-सिद्धान्तो का अन्तर है, 'छोटी कविता मूलतः प्रगीत कविता है, जबकि लम्बी कविता नाटकीय कविता है। नाटकीय कविता अरस्तू द्वारा निरुपित 'कार्य का अनुकरण' के सिद्धान्त पर आधारित होती है जब कि प्रगीत कविता मे सारा बल अनुचिन्तन (रिफ्लेक्शन) पर होता है।" इस अनुचिन्तन के आधार पर प्रगीतात्मक काव्य-सरचना का विश्लेषण करते हुए डॉ नामवर ने गेब्रिएल पियर्सन के हवाले से यह भी स्पष्ट किया कि ऐसी कविता का सामान्य रूपाकार वर्तुल होता है: कवि वस्तुतः संसार का पर्यवेक्षण करते हुए अपने आप का निरीक्षण करता है और अनुभव-क्रिया मे अपने आप को पकडने की कोशिश करता है। इस प्रकार प्रगीत कविता अनुभव सम्बन्धी अनुभव अथवा अनुभव को अनुभव

करने की कविता है। इसीलिए इसे अहं केन्द्रित या अनुचिन्तनात्मक कविता कहा जाता है।" इस प्रकार अनुचिन्तनात्मकता को डॉ नामवर बड़े कौशल से अहं केन्द्रित प्रवृत्ति से जोड़ देते है (और यहां भी वह 'अहं' शब्द का प्रयोग करते हैं 'आत्म' का नहीं) और तब निष्कर्ष देते हैं कि यदि वर्तुलाकार संरचना और अनुचिन्तनात्मक कविता पर्याय हैं (जो उनकी दृष्टि मे हैं) तो अज्ञेय की लम्बी कविता 'असाध्य वीणा' अपने आकार की लम्बाई के बावजूद एक प्रगीत है। लेकिन 'प्रगीतात्मकता' और 'वर्तुल सरचना' आत्मपरकता के परिणाम हैं और वर्तमान सामाजिक विषमता तथा भाव-बोध के अनुकूल नही हैं, अतः नामवर का निष्कर्ष था कि "कविता के प्रतिमान को व्यापकता प्रदान करने की दृष्टि से 'आत्मपरक' नयी कविता की दुनिया से बाहर की कविताओ को भी विचार-क्षेत्र की सीमा मे ले आना आवश्यक हो गया है। सबसे पहले वे कविताएँ जो अपनी काव्यानुभूति मे आत्मपरकता का आभास देते हुए भी वस्तुतः 'सरचना' में अप्रगीतात्मक है।" और यह अप्रगीतात्मकता नामवर को श्रीकान्त वर्मा, रघुवीर सहाय, राजकमल चौधरी, विजयदेवनारायण साही और मुक्तिबोध की कविताओ मे मिली जिसे उन्होने 'नाटकीय संरचना' कहते हुए उसे प्रगीतात्मक सरचना' की जगह कविता के केन्द्र मे *स्थापित करने का प्रयास किया और कह सकते हैं कि करीब दस-बारह वर्षों* तक इस स्थापना के केन्द्रस्थ होने के आभास का वातावरण जरूर बना रहा।

लेकिन इस वातावरण का असर यह हुआ कि पत्र-पत्रिकाओं में सपाटबयानी और आक्रोशपूर्ण वक्तव्यात्मक अनुकरणात्मक कविताओं की बाढ-सी आ गयी और इससे प्रभावित आलोचना ने भी धीमे और अन्तरंग स्वरो की निर्मम अवहेलना की। किन्तु यह हिन्दी कविता की सर्जनात्मक शक्ति ही थी कि उस ने किसी एक दिशा मे नियन्त्रित होने से इन्कार कर दिया और इस इन्कार की जानकारी तब मिली जब एक साथ बहुत से कवितासग्रह प्रकाशित होने पर पाया गया कि अधिकांश नये प्रतिभाशाली कवियो मे नाटकीयता और आवेग नही है। मुक्तिबोध के काव्य-संघर्ष के प्रति गहरे सम्मान के बावजूद हिन्दी की नयी पीढी की काव्य-संरचना पर उनका प्रभाव नही दिखायी देता। इन नये कवियो की रचनाओ मे आक्रोशपूर्ण वक्तव्यात्मकता की बजाय एक काव्य-धीरज है जिसके कारण इनका लहजा धीमा और अन्तरग है, प्रकृति और आत्मीय सम्बन्धो की स्मृति पुनः केन्द्र मे है और चान्द्र विद्रोह-भंगिमाओ तथा भावुकता के अतिरेक से दूर यह कविता बौद्धिक संयम के साथ मानवीय

दर्द को अभिव्यक्त करती है—इसकी लय मे भी धूमिल और श्रीकान्त वर्मा की तरह नाटकीय तीखेपन की बजाय एक अलक्षित लय-विधान है। सच तो यह है कि काव्य-परम्परा की दृष्टि से (विचार-परम्परा या कथ्य-परम्परा एक अलग चीज़ है) इन नये कवियों की रचनात्मकता के बीज मुक्तिबोध, राजकमल चौधरी या श्रीकान्त वर्मा-धूमिल की बजाय प्रारम्भिक अज्ञेय, शमशेर, प्रारम्भिक रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर, कुअरनारायण आदि कवियों मे दिखाई पडते है। अशोक वाजपेयी, प्रयाग शुक्ल, श्रीराम वर्मा, अवधेशकुमार, गिरधर राठी, मगलेश डबराल, राजेश जोशी एव ऐसे ही अन्य बहुत से नये कवि प्रगीतात्मक सरचना की ओर उन्मुख है। डॉ. नामवरसिंह जैसे सजग आलोचक का ध्यान इस ओर जाना स्वाभाविक है और लगता है कि प्रगीत की वापसी की बात इन्ही सब कवियो से प्रेरित होकर उठायी गयी है, अन्यथा दस वर्ष मे हिन्दुस्तान की सामाजिक विषमता मे कोई ऐसी कमी नही आ गयी है कि नाटकीय संरचना की बजाय प्रगीतात्मक सरचना की अनिवार्यता नामवर को महसूस होने लगे। इस सम्बन्ध में लूकाच का ज़िक्र भी उन्होने किया है, अतः यह देखना मुनासिब होगा कि लूकाच प्रगीत के बारे मे क्या कहते हैं।

'नया एकान्त और उस की कविता' शीर्षक के अन्तर्गत स्टीफन जॉर्ज की कविता की प्रशंसा करते हुए लूकाच ने नयी प्रगीत कविता की कुछ विशेषताओ को रेखांकित किया है। इन विशेषताओ मे सबसे प्रमुख हैं: आत्मीयता और ऐन्द्रिकता। लूकाच के अनुसार पुराने गीत साथ मिल कर गाने के लिए या प्रस्तुति के लिए होते थे जब कि नया प्रगीत अकेले मे पढने के लिए है। इन प्रगीतो मे प्रकृति भी मनुष्य की सहायता नही करती, वह प्रकृति के बीच अकेला है और दो अकेली आत्माओं के बीच एक क्षणिक सवाद ही सब कुछ है क्योकि उनका फिर अलग होना अवश्यम्भावी है। अज्ञेय ने भी तो लिखा है. क्या यही है मिलन ? दो अद्रवित एकान्तो की मुलाकात सक्षिप्त ? 'लूकाच स्टीफन जॉर्ज की एक कविता नये प्रगीत के उदाहरण के रूप मे उद्धृत करते हैं :

> कितनी कातरता से तुम्हारी अँगुलियाँ
> *थके हुए डँठलो को पिरोती है।*
> यह साल अब हमे और फूल नही देगा
> कैसी भी अनुनय नही ला सकेगी जिन्हे
> एक दिन शायद दूसरा मई उन्हे लाये।

मेरी बाँह को छोड़ दो और धैर्य रखो
आखिरी किरण से पहले ही
मेरे साथ यह बगीचा छोड़ दो
इससे पहले कि कोहरा
पहाड़ से सब पर छा जाय
इससे पहले कि सर्दियाँ हमें अलग कर दे
हम एक-दूजे से विदा ले लें।

इस कविता मे आत्मीयता भी है और ऐन्द्रिकता भी, बिम्ब भी है और वर्तुलाकार सरचना भी। आत्मपरक तो यह है ही। लूकाच के हवाले से क्या डॉ. नामवर इसी तरह की प्रगीत कविता की प्रतिष्ठा चाहते हैं—मेरा तात्पर्य इसी कोटि की सरचना से है। तब इसमे नया क्या है? वापसी किस चीज़ की होनी है? अज्ञेय, शमशेर, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर, कुअरनारायण, अशोक वाजपेयी, प्रयाग शुक्ल, अवधेश कुमार, श्रीराम वर्मा, मंगलेश डबराल, गिरधर राठी आदि बहुत से नये-पुराने कवि क्या इस तरह की कविता नही लिखते रहे हैं? हो सकता है केदारनाथ सिंह भी कुछ महत्वपूर्ण कविताएँ लिख रहे हों—वह पहले भी अच्छी प्रगीत कविता लिखते रहे हैं—लेकिन 'लिरिक' की वापसी जैसी क्या बात इसमें है? हा, यह प्रगीत की ओर एक ऐसे आलोचक की वापसी जरूर है जो उसे अप्रासगिक मान कर 'नाटकीय संरचना' को कविता के केन्द्र मे प्रतिष्ठित करने मे जुट गया था। क्या विडम्बना है कि जिस आलोचक ने प्रगीत को खारिज करार दिया आज उसी को उसकी वापसी श्रेयस्कर लग रही है?

दरअस्ल, आलोचना जब रचना को नेतृत्व देने लगती है तो वह अतिवादी हो जाती है। आलोचना अक्सर कविता या सर्जनात्मकता को बजाय सिद्धान्त पर अधिक बल देने लगती है और जब रचनाकार आलोचना की स्थापनाओं को ध्यान में रखकर रचना करते हैं तो वह बनावटी हो जाती है। सपाटबयानी के नाम पर अधिकांशतः यही हुआ, अतः नये प्रतिभाशाली रचनाकारों को उससे मुक्त होना पड़ा। उससे पहले बिम्बवाद के अतिरेक मे भी ऐसा ही हुआ था। अतः किसी एक संरचना-प्रकार या काव्य-सिद्धान्त को केन्द्र में स्थापित करने और उसके अनुसार रचना न करने वालो को अप्रासंगिक ठहराना न केवल आलोचकीय असहिष्णुता है बल्कि रचनात्मकता की अवहेलना भी है। किसी भी समय मे रचनात्मकता की बहुत सी प्रवृत्तियाँ सहवर्ती होती हैं,

उन मे से किसी एक प्रवृत्ति को केन्द्र में स्थापित करने का प्रयत्न साहित्य के इतिहासकार के लिए तो सुविधाजनक हो सकता है पर वह साहित्य और साहित्यकार के लिए श्रेयस्कर नही है। प्रत्येक रचनाकार की अपनी विशिष्ट सवेदना और शैली होती है अतः उसकी मर्यादा मे ही उसे समझा जा सकता है। आलोचना द्वारा किसी भी प्रवृत्ति या कृति की अवहेलना नही होनी चाहिए। यदि वह ऐसा करती है तो उसे एक दिन वापस भी आना पडता है। इसलिए रघुवीर सहाय की बात की सचाई को टाला नही जा सकता' उस (कवि) को कृपया यह न बताइये कि कविता कैसे करने से कविता को समालोचक मान्यता देंगे। इतना करने का समय हो, तो जाइये दो ठो कविता पढ डालिये।'

ग्रामीण पाठकों के लिए साहित्य

वयस्क शिक्षा और अनौपचारिक शिक्षा के क्षेत्र मे काम करने वालो के सम्मुख यह समस्या बराबर बनी रही है कि नवसाक्षरो को पढने की आदत डालने के लिए कौन-सा साहित्य दिया जाय। उन की समस्या इस कारण और गम्भीर हो जाती है कि यदि नवसाक्षर पढने-लिखने की आदत नही डालेगा तो वह कुछ ही दिनो मे अपना सीखा हुआ भूल कर फिर निरक्षरता में गिर जायेगा। यही बात उन अधिकाश ग्रामीण बालकों पर भी लागू होती है जो प्रारम्भिक शिक्षा के दौरान ही शाला छोड़ देते हैं। अगर लम्बे समय तक वे अपनी साक्षरता को व्यवहार मे नही लाते हैं—और निश्चय ही इस के अवसर उन्हें बहुत कम मिलते हैं क्योंकि आज भी अधिकाश गाँवों मे अखबार या पुस्तकों तक उन की सुलभ पहुँच नही है—तो वे भी निरक्षर के समान ही हो जाते हैं चाहे आँकडो मे उन्हे साक्षर बताया जाता रहे। इसलिए वयस्क शिक्षा के कार्यकर्ता 'फॉलोअप लिट्रेचर' को बहुत महत्व देते हैं और इस बात की आवश्यकता महसूस करते हैं कि इस नवसाक्षर वर्ग को भी साहित्य उपलब्ध करवाया जाना चाहिए। यह नवसाक्षर वर्ग अधिकांशतः गाँवो में रहता है और जो शहरो मे है वह भी अधिकांशतः गावो से ही आया हुआ है, उस की सवेदना और संस्कार अभी भी ग्रामीण क्षेत्र से जुड़े हैं, अतः यह भी कहा जा सकता है कि यह समस्या एक प्रकार से ग्रामीण पाठकों के लिए साहित्य उपलब्ध करवाने की है।

लेकिन सवाल उठता है कि यह साहित्य किस प्रकार का हो। बहुत से समाजशास्त्री और भाषाविद् इस प्रश्न पर गहराई से विचार करते रहे हैं कि ग्रामीण पाठको को किस प्रकार का साहित्य रुचेगा। उसकी भाषा-शैली और विषय-वस्तु क्या हो ? इन सब बातों पर गहरे विचार-विमर्श के बाद कई सिद्धान्त निर्धारित किये गये हैं और उन के आधार पर साक्षरता निकेतन (लखनऊ), राजस्थान प्रौढ शिक्षण समिति, बीकानेर प्रौढ शिक्षण समिति, सेवा मन्दिर, राजस्थान विद्यापीठ और ऐसी ही अन्य कई संस्थाओं ने

इस तरह का साहित्य तैयार करवा कर प्रकाशित किया और अपने ग्रामीण इलाको में पहुँचाया है। वयस्क शिक्षा के काम से जुड़े रहने के कारण इस तरह का अधिकांश साहित्य मैं ने देखा है और कई बार उसके निर्माण के आयोजन से भी जुड़ा रहा हूँ। अब तो नेशनल बुक ट्रस्ट जैसी संस्थाएं भी इस ओर रुचि लेने लगी है और विभिन्न इलाको मे शिविर आयोजित कर लेखको से ग्रामीण पाठकों के लिए साहित्य लिखवाने और उसे प्रकाशित कर गांवों तक पहुचाने के लिए सचेष्ट हैं।

लेकिन अपने अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि इस तरह के सभी प्रयासो के पीछे एक भ्रामक दृष्टि काम कर रही है जिस के कई पहलू है। प्रथम तो यही कि इस तरह के प्रयास करने वाले लोग यह मानकर चलते है कि हमारे श्रेष्ठ साहित्यकारो द्वारा जो रचना-कर्म किया जा रहा है वह ग्रामीण पाठको के लिए अप्रासंगिक है क्योंकि एक तो उस का सम्बन्ध ग्रामीणो के जीवन से नही है और दूसरे यह कि यदि उस की विषय-वस्तु ग्रामीण जीवन से जुड़ी हो तब भी उसका 'ट्रीटमेंट' ग्रामीणो की समझ से परे होता है। इसी कारण अक्सर व्यग्य किया जाता है कि एक भूमिहीन किसान या बेघर मजदूर की तकलीफों से जुड़ने का दावा करने वाला जो साहित्य खुद उन की ही समझ मे नही आता उससे क्रान्ति की प्रेरणा देने की आशा भ्रान्ति नही तो और क्या है? और लेखको की समस्या यह है कि यदि वे अपने 'ट्रीटमेंट' मे कलात्मकता का निर्वाह नही करते तो आलोचको और साहित्य के अध्यापको द्वारा उन के लेखन पर विचार नही किया जायेगा। क्या इस से एक और भ्रम पैदा नही होता कि कलात्मकता और व्यापक सम्प्रेषण एक-दूसरे के विपरीत है? सभी कलारूप अनुभव और सम्प्रेषण के विविध ढंग है, अतः यह विडम्बना नही तो और क्या है कि स्वय कलात्मकता को सम्प्रेषणविरोधी करार कर दिया जाय?

इस तरह के प्रयासो के पीछे अक्सर यह अभिजात मानसिकता भी काम करती है और कई बार इसे स्पष्ट अभिव्यक्ति भी दे दी जाती है कि कला का आस्वाद सभी के लिए नही है; यह केवल एक विशिष्ट सुरुचिसम्पन्न वर्ग के लिए है क्योंकि वही उस की प्रतीकात्मकता ओर सूक्ष्मता की समझ रख सकता है। इस का सीधा नतीजा यह निकलता है कि इस ग्रामीण वर्ग के लिए वास्तविक साहित्य की कोई आवश्यकता नही है, लेकिन इस वर्ग को भी बहुत सी सूचनाएँ देनी हैं, उस मे नागरिक चेतना जाग्रत करनी है और साथ

ही उस की साक्षरता को बनाये रखने के लिए भी उसे कुछ-न-कुछ पढने के लिए देना जरूरी है, इसलिए कहानी आदि साहित्यरूपों के माध्यम से कुछ इस तरह की चीज उस तक सम्प्रेषित कर दी जाय जिस से इन सब उद्देश्यो की एक साथ पूर्ति हो सकती हो। अभी 'तैयार' किया जा रहा 'फॉलोअप लिट्रेचर' या ग्रामीण पाठको के लिए तैयार की गई पुस्तकें अधिकांशतः इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं। लेकिन यह एक कृत्रिम प्रयास से तैयार किया गया 'साहित्य' होता है, अतः अधिकांशतः प्रभावहीन रहता है जिसका नतीजा यह होता है कि यह न तो ग्रामीण पाठकों में साहित्यिक भूख को जागृत करता और उसे तृप्त करता है और न ही तैयार करने वालो के उद्देश्यों की पूर्ति करता है क्योकि सहज रोचकता के अभाव के कारण वह अपने पाठको को बांधे नही रह सकता।

इस सम्बन्ध मे एक बुनियादी बात और भी विचारणीय है और वह यह कि क्या साहित्य इस 'मांग और पूर्ति' के सिद्धान्त के आधार पर 'तैयार' किया जा सकता है? क्या फिल्मी गानो की तरह कविताओं और कहानियो के लिए भी लेखको को 'सिचुएशन', थीम और उनके माध्यम से व्यक्त किए जाने वाले विचार बतला कर साहित्य-सृजन करवाया जा सकता है? और क्या तब इसे सृजन कहना और उस प्रभाव की आशा करना उचित होगा जो हम वास्तविक सृजन से करते हैं? यदि इन सब प्रश्नो के उत्तर निषेधात्मक हैं और मेरा अनुमान है कि सम्भवतः सभी लोग उस पर सहमति रखते होंगे— तो इस सवाल की अनदेखी भी नही की जा सकती कि इस तरह नवसाक्षरों और ग्रामीणों की सहज जिन्दगी मे हम एक कृत्रिम साहित्य का हस्तक्षेप करवा रहे होंगे और जाहिर है कि इस का नतीजा न तो साहित्यिक-पाठकीय दृष्टि से अच्छा होगा और न साक्षरता की दृष्टि से ही।

तब सवाल उठता है कि हम करें क्या? क्या साहित्य और कला ग्रामीण वर्ग के लिए नही हैं? क्या हम इस वर्ग को पुनः निरक्षरता मे डूब जाने दें? क्या यह बेहतर नही है कि उन्हे कामचलाऊ तौर पर ही सही कुछ-न-कुछ पढने के लिए दिया जाता रहे?

मेरा मन्तव्य है कि हमारा ग्रामीण वर्ग साहित्यिक दृष्टि से संवेदनाशून्य और संस्कारहीन नही है—वह वर्ग भी जो अभी तक साक्षर नहीं है। वह आज भी रामायण, महाभारत, भागवत और पौराणिक कथाएँ सुनता है, लोक-कथाओं

में रस लेता है और अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली को भी समझता है—चाहे उसका शिष्ट उच्चारण वह न भी कर सके। धार्मिक साहित्य को अलग भी कर दें तो इस वर्ग में अलग-अलग समाजों में किस्सा चार दरवेश, किस्सा हातिमताई, सिन्दबाद की कहानियाँ, अकबर-बीरबल विनोद जैसी अनेकानेक चीज़ें लोकप्रिय है, परी-कथाओं के प्रति आज भी उनमे आकर्षण है और सिंहासन बत्तीसी, कथा सरित्सागर तथा पँचतन्त्र की कहानियाँ उन में पढ़ी-सुनी जाती है। इन सब कथाओं के अनुभव और अर्थ बहुआयामी हैं और मनोविज्ञान की शब्दावली मे कहे तो किसी न किसी ऐसे आदिरूपक पर आधारित है जो अलग-अलग स्तरो पर अलग-अलग अर्थ देते हुए भी अविभाज्य रहा है। अतः ऐसा साहित्य सभी वर्गों की साहित्यिक तृप्ति भी करता है।

आधुनिक साहित्य भी—अपने बदले हुए सन्दर्भों के बावजूद कुछ इसी तरह के 'आर्कीटाइप्स' पर—आदिरूपकों पर आधारित रहता है, अतः यह माना जा सकता चाहिए कि वह ग्रामीण पाठकों के लिए पूर्णतः असम्प्रेषणीय नही हो सकता। लेकिन हम जिस संक्रमणशील युग मे है उसकी अपनी कुछ सीमाएँ है जिनके चलते ग्रामीण और शहरी वर्ग अलग दीखते हैं और इस कारण उनकी साहित्यिक आवश्यकताओ को भी अलग समझा जाने लगा है। दरअस्ल, प्रत्येक समाज में शाब्दिक और अशाब्दिक सम्प्रेषण की अपनी परम्पराएँ होती हैं और उस समाज के सदस्य एक समान सम्प्रेषण परम्परा मे रहने के कारण एक सम्प्रेषण सस्कार में साझा करते हैं। परिवर्तन के युगों मे अन्य बातों की तरह सम्प्रेषण संस्कार मे परिवर्तन होता है। लेकिन यह परिवर्तन एक साथ घटित नही होता, इसकी गति बहुत धीमी होती है और कम साक्षरता वाले समाजो मे तो और भी धीमी हो जाती है। हमारा ग्रामीण समाज और एक हद तक कस्बाई समाज भी अभी तक अधिकांशतः सम्प्रेषण के वाचिक संस्कार मे दीक्षित है जब कि आज के लेखक का अपना सर्जनात्मक संस्कार वाचिक परम्परा से हटकर मुद्रण से जुड़ता गया है। इस कारण साहित्य की संरचना और भाषा आदि पर क्या प्रभाव पड़ते है और उन मे क्या बुनियादी परिवर्तन घटित होते है इस पर आधुनिक लेखको द्वारा काफी विचार किया गया है। लेकिन लेखक और पाठक के सम्बन्धों पर इसका एक असर यह पड़ा है कि लेखक और पाठक के बीच सम्प्रेषण के स्तर पर एक खाई पैदा हो गयी है।

लेकिन साहित्य मे भी यह परिवर्तन एकाएक घटित नहीं हुआ है। और कई लेखक अब भी ऐसे हैं जो अपनी सर्जनात्मकता मे वाचिक संस्कार को एक मुख्य आधार बनाये हुए हैं। अभी भी बहुत से लेखकों में इतिवृत्तात्मकता केन्द्रीय तत्त्व है और ऐसे लेखकों से ग्रामीण पाठको का साझा आसानी से हो सकता है। आधुनिक समझे जाने वाले पाठक वर्ग तक मे इस वाचिक परम्परा और इतिवृत्तात्मकता के प्रति अब तक आकर्षण शेष है। विजयदान देथा जैसे लेखक के प्रति बहुत से आधुनिक पाठको के आकर्षण का मूल कारण यही है। विजयदान ने लोककथाओ का पुनः लेखन किया है, यह आग्रह भी उन पाठकों का नही है। इनमे से अधिकांश लोक-कथानक अन्यत्र भी प्राप्त हो सकते हैं। लेकिन उनकी प्रस्तुति सपाट होती है, अतः वहाँ कहानी का अनुभव नही है एक घटना की सूचना है जब कि विजयदान देथा उस कथानक को वाचिक शैली मे प्रस्तुत करते है जिस के कारण उस पढ़ने में एक अनुभव का सम्प्रेषण होता है। यह अकारण नही है कि बिज्जी की यह वाचिक शैली लोक-कथानकों की प्रस्तुति मे जितनी सफल होती है आधुनिक कथानकों के साथ उतनी नहीं।

लेकिन यहाँ जो बात विचारणीय है वह यह कि ग्रामीण पाठको तक फिलहाल वही साहित्य सम्प्रेषित हो सकता है जो वाचिक परम्परा और इतिवृत्तात्मकता को स्वीकार करता हो। इसके लिए यह तरीका फिर गलत होगा कि लेखकों से इन्ही शैलियो मे ही लिखने का आग्रह किया जाय क्योकि यह लेखक की अपनी विशिष्ट संवेदना और अनुभव पर निर्भर करता है कि वह किस विधा या शैली मे रचना करे। लेकिन अभी भी बहुत से लेखक हैं—और तीस-चालीस वर्ष पूर्व तक तो हर भारतीय भाषा मे बडी सख्या मे रहे हैं—जिनका सृजन-संस्कार छपने के बावजूद काफी हद तक वाचिक परम्परा और इतिवृत्तात्मकता का रहा है। बगला में बंकिम, रवीन्द्र, शरत्, गुजराती में कन्हैयालाल माणकलाल मुशी जैसे लेखक तथा हिन्दी में प्रेमचन्द-वृन्दावनलाल वर्मा आदि इसी शैली के लेखक हैं क्योकि वे अपनी-अपनी भाषाओं में उस दौर के लेखक हैं जब लेखको में भी सम्प्रेषण संस्कार का परिवर्तन प्रारम्भ ही हुआ था।

विदेशी भाषाओ में भी डेनियल डिफो, सर्वेन्टीज, डिकेन्स आदि ऐसे ही लेखक हैं जो सभी वर्गों और स्तरों के पाठकों को एक साथ आकर्षित करते हैं—बल्कि आधुनिक काल में भी विलियम गोल्डिंग जिन्हे पिछले वर्ष साहित्य का नोबुल पुरस्कार मिला—जैसे लेखक मिल जाते हैं जिन के 'लार्ड आफ द

प्लाइज' जैसे उपन्यास को सभी वर्गों के पाठक पसन्द कर सकते हैं। मै तो यह भी कहूँगा कि नाटकों की तरह ऐसे उपन्यासो-कहानियो का भी भारतीय रूपान्तरण कर उन्हे ग्रामीण पाठको को सुलभ करवाया जाना चाहिए।

इसलिए इस सिलसिले में मुझे सही रास्ता यही लगता है कि आधुनिक लेखको से कृत्रिम प्रयास करवाने की बजाय आधुनिक दौर के प्रारम्भ के उन लेखको का साहित्य ग्रामीण पाठको को सुलभ करवाया जाय जिन के सम्प्रेषण सस्कार में ग्रामीण समाज का काफी हद तक सक्रिय साझा है—विजयदान देथा जैसे लेखको को भी इस सूची में शामिल किया जा सकता है। इस से दो बातें एक साथ हो सकेंगी। एक तो यह कि कृत्रिम और जड़ साहित्य की बजाय असली और जीवन्त साहित्य की रसाई ग्रामीण समाजो तक हो सकेगी जिस से उन की संवेदना और साहित्य संस्कार को ऊर्जा मिलेगी और दूसरी यह कि इस साहित्य को पढते हुए उनमें न केवल पढने की सुरुचि का विकास होगा वल्कि साथ-ही-साथ गहरे और बुनियादी स्तरो पर उनके सम्प्रेषण संस्कार के नवीनीकरण की शुरुआत हो सकेगी जो धीरे-धीरे उन्हे आधुनिक साहित्य के निकट लाती जायेगी और जिस का एक और गहरा और दूरगामी परिणाम धीरे-धीरे सांस्कृतिक स्तर-भेद की समाप्ति के रूप में हमारे सामने आ सकता है। लेकिन इस के लिए आवश्यक है हमारे पूर्ववर्ती श्रेष्ठ साहित्य को ग्रामीण पाठको तक आकर्षक रूप में सुलभ करवाना। क्या सरकारी विभागो, अन्य स्वैच्छिक सस्थाओ और प्रकाशकों का ध्यान इस ओर जायेगा?

साहित्य के प्रति उदासीनता क्यों ?

लेखकों और प्रकाशकों के सम्मुख यह प्रश्न निरन्तर बना रहा है कि हिन्दी प्रदेश मे साहित्य के पाठक क्यों नही हैं ? समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह प्रश्न इस तरह भी रखा जा सकता है: साहित्य के प्रति समाज मे उदासीनता क्यो है ? यदि कोई समाज अपने समकालीन साहित्य के प्रति उदासीन रहता है तो उसका क्या तात्पर्य होता है ? साहित्य को किसी भी समाज की सर्जनात्मक चेतना की अभिव्यंजना माना जाता रहा है। क्या मान लिया जाय कि हमारे समाज मे सर्जनात्मकता के प्रति कोई ललक नही है ? यह मानना दूसरे शब्दो मे यह स्वीकार करना होगा कि चेतना के भी विकास की गुंजाइश बहुत कम है। शायद हम मे से कोई भी यह स्वीकार करने को तैयार नही होगा।

एक सीधा-सा उत्तर यही हो सकता है कि देश में और खास तौर पर हिन्दी-प्रदेश में अभी तक साक्षर लोगो की संख्या बहुत ही कम है, इसलिए स्वाभाविक ही है कि पाठको की सख्या भी बहुत कम हो। लेकिन तब यह देखना होगा कि जो साक्षर हैं बल्कि जो स्कूल-कालेज की शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं, या कर रहे हैं, उन मे भी क्या साहित्य के प्रति कोई ललक है। सामान्य तौर पर यदि किसी अच्छे-खासे पढे लिखे व्यक्ति से साहित्य में उस की रूचि के बारे में पूछा जाय तो जो उत्तर मिलता है वह निषेधात्मक तो होता ही है उस मे एक सफ़ाई भी होती है कि वह तो वाणिज्य का या विज्ञान का या अर्थशास्त्र आदि अन्य विषयो का विद्यार्थी रहा है और हिन्दी तो उसे अनिवार्य विषय के रूप में एक-दो वर्ष पढनी पडी थी। इस उत्तर से लगता है मानों साहित्य सिर्फ़ हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए लिखा जाता है और बाकी विषय के लोगों का उससे कोई सम्बन्ध नही है। यह स्थिति सिर्फ विद्यार्थियों की नही है बल्कि अच्छे-खासे पढे लिखे लोगो, यहाँ तक की कालेज-विश्वविद्यालय आदि में पढ़ाने वाले अध्यापक वर्ग तक की है जो शैक्षिक दृष्टि से पूरे समाज के श्रेष्ठतम का प्रतिनिधित्व करता है।

कुछ लोग यह तर्क भी देते है कि किताबों की कीमतें बहुत ज्यादा बढ गयी हैं और अब पुस्तक ख़रीदना हर किसी के बस की बात नही रही है। अपनी जगह यह बात भी ठीक लगती है। किताबो की कीमतें निश्चय ही कम की जानी चाहिए। लेकिन सिनेमा के टिकिट के दाम भी बढे है और हम पहले से ज्यादा सख्या मे उसे देखते हैं। जिस वर्ग पर इन बढी हुई कीमतो का सब से ज्यादा असर है, उस वर्ग मे से पाठक पाने की उम्मीद तो वैसे भी बहुत कम होती है क्योकि वह तो पूरी तरह साक्षर भी नही है। इसके अतिरिक्त किताब हमेशा खरीद कर ही पढ़ना जरूरी नहीं होता। हर शहर मे और हाईस्कूलो वाले कस्बो मे भी अधिकांशतः पुस्तकालय हैं जिनमे से अधिकांश में किताबें सदैव आल्मारी मे ही बन्द पड़ी रहती हैं। क्या कारण है कि इन स्कूलो-कालेजो के शिक्षक वर्ग मे भी पुस्तकों के प्रति कोई खास आकर्षण नही पाया जाता? यदि कोई एकाध शिक्षक साहित्य की पुस्तको मे कुछ रूचि लेता पाया जाता है तो सहकर्मियो द्वारा उसे व्यंग्य में साहित्यकार या फिलॉसॉफर कहा जाने लगता है। यदि उपलब्ध रहने पर भी पुस्तकें नही पढी जाती है तो निश्चय ही इस का कारण पुस्तको की बढती हुई कीमतो मे नही बल्कि हमारी मानसिकता मे तलाश किया जाना चाहिए।

कुछ लोग हैं जो इस का दायित्व आज के रचनाकारो पर ही डालते है। इस मे दो तरह के लोग हैं: एक वह हैं जो मानते हैं कि आज लिखे जा रहे साहित्य मे साहित्य जैसा कुछ नही हैं, उस मे न कोई कहानी है, न कोई छन्द है और कुछ इस तरह लपेटी हुई अभिव्यक्ति होती है कि पाठक को कुछ भी पल्ले नहीं पड़ता और इसीलिए साहित्य के प्रति उस की रूचि का विकास नहीं होता। इस वर्ग के लोगो से दो सवाल पूछे जाने चाहिए। पहला तो यह कि क्या आधुनिक काल से पहले का अर्थात नयी कविता-नयी कहानी के पहले का साहित्य भी वे पढ़ते हैं। प्रेमचन्द्र-जैनेन्द्र या प्रसाद-निराला-पन्त का साहित्य कितने ऐसे लोग पढ चुके हैं, जिन्हें वह अपने पाठ्यक्रम मे नही पढना पडा है। क्या ऐसे पाठको की संख्या पर्याप्त है जो पुस्तकों की दुकानो या पुस्तकालयों मे जाकर इन लेखको या इन से भी पहले के लेखको की पुस्तको की माँग करते हैं? इन लेखको के पाठको का एक बड़ा प्रतिशत वही है जो या तो अपने पाठ्यक्रम मे कही न कही इन्हे पढ़ता है और तभी एक-दो पुस्तकें और भी पढ लेता है या फिर वह है जो आधुनिक लेखको की पुस्तकें भी पढता है लेकिन जिस की संख्या बहुत कम है। दूसरा सवाल यह भी पूछा जा सकता

है कि साहित्य मे उसकी हर विधा में ये आधुनिक प्रवृत्तियाँ तो सभी समाजो के साहित्य मे दिखायी देती हैं लेकिन हमारे समाज की अपेक्षा वहाँ—विशेषतया पश्चिमी देशो में साहित्य के पाठको की संख्या क्यों बहुत ज्यादा है ? क्या कारण है कि इस तरह की साहित्यिक प्रवृत्तियों ने वहाँ के पाठक समुदाय में कमी नही की ? यह तो हुआ है कि किसी नयी प्रवृत्ति के प्रारम्भ मे कम ग्राहक मिले लेकिन ऐसा नही हुआ कि इस से साहित्य मात्र के पाठकों की संख्या मे कमी आ गयी हो।

रचनाकारो का ही दोप समझने वाले दूसरी तरह के लोग वे हैं जो यह मानते हैं कि आधुनिकता का साहित्य समाज से जुड़ा हुआ नही है, वह व्यक्ति की निजी निराशा या कुठा का साहित्य है, उस मे आम आदमी के संघर्ष का चित्रण नही है, इसलिए उसमे आम पाठको की रूचि न होना अस्वाभाविक नही है। लेकिन इस वर्ग के लोग अपनी तकरीर मे यह भूल जाते हैं कि अभी लिखा जा रहा सारा ही साहित्य वैसा नही है। ऐसे भी बहुत से लेखक है जो स्वय अपने साहित्य को आम आदमी से जुडा हुआ साहित्य मानते हैं। उन लेखको की पुस्तकें भी अन्य लेखकों की तुलना मे क्यो अधिक नही बिकती या पढी जाती? कुछ पुस्तको की दुकानो का चुनाव कर उनमे किताबो की व्यक्तिगत खरीद और कुछ पुस्तकालयो के आधार पर यह सर्वेक्षण भी कभी किया जाना चाहिए कि किस तरह के लेखकों की पुस्तकें ज्यादा पढी जा रही हैं ? इस सर्वेक्षण के बिना भी पुस्तकों के संस्करणो और कुछ लेखको की निजी लोकप्रियता के आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि लेखक के राजनीतिक रूझान का उस के पढे जाने मे कोई महत्वपूर्ण योगदान नही है।

मुझे लगता है कि हमारे समाज मे पाठको की पर्याप्त संख्या न होने का मूल कारण यही है कि हमारी मानसिकता अभी तक पढने की परम्परा के अनुकूल नही बनी है। हमारा मन अभी तक वाचिक परम्परा के अधिक अनुकूल है। साहित्य अभी तक हमारे लिए पढने से अधिक सुनने की वस्तु है। ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है जो बदलती हुई परिस्थितियो के अनुसार अपने को पढने की प्रवृत्ति मे ढाल पाये हो—और इस की जिम्मेदारी काफी हद तक हमारी शिक्षा पद्धति और पत्र-पत्रिकाओं की भी है।

कवि-सम्मेलनो और मुशाइरो मे होने वाली भीड़ इस बात का साक्ष्य है कि समाज मे साहित्य मात्र के प्रति रूचि बनी हुई है। यह ठीक है कि इन सस्थाओं का कुछ अवमूल्यन हुआ है लेकिन यदि इन मे साहित्यिक स्तर की

रचनाएं भी पढ़ी जायें तो लोग सुनना पसन्द करते है। ऐसे किसी भी आधुनिक कवि को जिस के बारे मे लोग थोड़ा-बहुत भी जानते हो, किसी भी शहर मे बुलाकर यदि उसके काव्य-पाठ या व्याख्यान का कार्यक्रम रखा जाय तो जितने श्रोता उस मे मिल जायेंगे उतने पाठक किसी एक पुस्तक के वहाँ नही मिलेंगे।

लेकिन कविता या साहित्य मात्र अधिक सवेदनशील होने के नाते बदली हुई परिस्थितियो को कुछ जल्दी पहचान लेता है और उसके अनुरूप परिवर्तन उसके अपने स्वरूप मे भी आने लगते हैं। यह नहीं होता कि पहले समाज बदले और फिर साहित्य। होता हमेशा यही है कि साहित्य के स्वरूप मे पहले *परिवर्तन आता है और बाद मे वह समाज की प्रवृत्तियो मे भी दिखाई देने* लगता है। इस कारण अब साहित्य से पुनः वाचिक परम्परा की माँग करना तो गलत होगा। लेकिन उन सस्थाओं को इस ओर ध्यान देना होगा जो साहित्य की सामाजिक ग्राहकता के इस परिवर्तन मे अपनी भूमिका का निर्वाह ठीक तरह से नही कर पा रही है। जब तक हमारी शिक्षा प्रक्रिया और पत्र—खास तौर पर लोक प्रिय पत्र—इस दिशा मे सचेष्ट नही होते तब तक समाज मे साहित्य के प्रति वर्तमान उदासीनता की प्रवृत्ति का बने रहना अस्वाभाविक नही है। पत्रो मे साहित्य के समाचार और जानकारी इतनी कम होती है कि उसे नगण्य माना जा सकता है। पूरे सप्ताह मे वह जितना स्थान राजनीति (और यदि उसे जरूरी मान लें तो) और खेल-कूद तक को देते हैं उसका दसवा हिस्सा भी साहित्य या संस्कृति सम्बन्धी विचार और समाचार को नही देते। अधिकाश लोकप्रिय साप्ताहिको में पुस्तक-समीक्षा का स्तम्भ या तो होता ही नहीं और यदि होता भी है तो अधिकांशतः उस में समीक्षक के वैचारिक आग्रहो-दुराग्रहों के आधार पर पुस्तक को स्वीकृत-अस्वीकृत करने की प्रवृत्ति अधिक दिखायी देती है जब कि उस का उद्देश्य सामान्य भाषा में पाठक को यही बताना होना चाहिए कि लेखक ने क्या कहना चाहा है और उस की कृति का आस्वाद किस तरह लिया जा सकता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि हमारे यहाँ आलोचनात्मक मूल्याकन और *सामान्य पाठको के लिए उपयोगी समीक्षा में भेद नही किया जाता* है। हमारी शिक्षा प्रक्रिया को भी इस आरोप से मुक्त नहीं किया जा सकता कि वह कई वर्षों तक विद्यार्थी को दीक्षित करने के बावजूद उस में अपने विषय से बाहर कोई रूचि नही पैदा कर पाती। यदि किसी भी विषय

का स्नातक या स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त व्यक्ति आधुनिक साहित्य की किसी रचना का आस्वाद कर पाने में अपने को असमर्थ पाता है तो पूरी शिक्षा प्रक्रिया की असफलता इसी से प्रमाणित है। दूसरे विषयों की बात छोड़ भी दें तो अध्यापन के अलावा किसी अन्य व्यवसाय में चले जाने वाले साहित्य के विद्यार्थी भी नियमित पाठक नहीं रहते। इस से क्या यह नहीं ज़ाहिर होता कि साहित्य-शिक्षण की पूरी प्रक्रिया आधुनिक परिस्थितियों से बच कर निकल जाती है जिस का परिणाम होता है एक लम्बे समय तक साहित्य के अध्ययन में समय गँवा कर भी विद्यार्थी में साहित्य की गहरी समझ तो दूर सामान्य रूचि तक भी नहीं विकसित हो पाता।

यह भी विचारणीय है कि साहित्य को पढ़ने की प्रवृत्ति पाठक से अकेले बैठने की–एकान्त की–माँग करती है जबकि सामान्यतः हमारे समाज का व्यक्ति अलग या अकेले बैठने का आदी नहीं है। हमारी शिक्षा-प्रक्रिया क्योंकि सृजनात्मक चिन्तन को बढ़ावा नहीं देती अतः उसके अभाव में अकेले बैठ कर पढ़ने की आदत भी विकसित नहीं होती। अख़बार पढ़े जाते हैं लेकिन ऐसे लोग बहुत कम हैं जो उन्हें अलग बैठकर पढ़ते हैं। अधिकांशतः वह भी ड्राइंगरूम में, पुस्तकालयों में या होटलों आदि में पढ़े जाते हैं और सामान्यतः हम तुरन्त उस पर किसी न किसी से बात भी करना चाहते हैं—बल्कि अधिकांशतः तो पढ़ते हुए ही आधी खबर पास बैठे व्यक्ति को पढ़कर सुनाना चाहते हैं। ज़ाहिर है पुस्तक के साथ ऐसा नहीं हो सकता।

यह शिक्षा प्रणाली और पत्र-पत्रिकाओं तथा अन्य प्रसारण साधनों का दायित्व है कि वे बदलती हुई परिस्थितियों को पहचानते हुए साहित्य के आस्वाद की नयी परिस्थिति के अनुकूल वातावरण का निर्माण करने में योगदान दें। कोई भी समाज अपने साहित्य के प्रति लम्बे समय तक उदासीन रहकर विकासमान नहीं रह सकता। विकास आत्मान्वेषण माँगता है और साहित्य को किसी भी जाति या समाज की आत्मकथा कहा गया है। साहित्य के प्रति उदासीनता का अर्थ अपने को ही समझने के प्रति उदासीन होना है जबकि मनुष्य की एक खास पहचान यह है कि वह दुनिया के साथ-साथ अपने को भी समझना चाहता है।

सच जो सिर्फ़ कविता है

'तीसरा सप्तक' के एक उल्लेखनीय कवि होने के बावजूद स्व. विजयदेव-नारायण साही की प्रसिद्धि मूलतः आलोचक के रूप मे रही। इस मे कोई सन्देह नही कि उन की आलोचना ने समकालीन हिन्दी आलोचना के विकास मे काफी हद तक नीव की सामग्री का काम किया। 'लघु-मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस', 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' तथा 'साहित्य क्यो' जैसे निबन्धो की बहुत-सी स्थापनाओ ने समकालीन हिन्दी आलोचना की समाजशास्त्रीय और भाषिक आलोचना पद्धतियों पर गहरा प्रभाव डाला था। डा नामवर सिंह की कृति 'कविता के नये प्रतिमान' मे सर्वाधिक उद्धरण—और वे भी अपनी स्थापनाओ के समर्थन व स्रोत के रूप में—अज्ञेय और साही के लेखो से लिये गये तथा पुस्तक का नाम भी साही के लेख 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' लेख से प्रेरित होकर रखा गया जिस मे साही ने लिखा था कि 'समूची नयी कविता को ठीक-ठीक देखने के लिए नयी कविता के प्रतिमान की जरूरत नही है, बल्कि कविता के नये प्रतिमान की जरूरत है'। लेकिन उन की छवि मूलत· आलोचक की बन जाने के कारण और कुछ हद तक प्रकाशन के प्रति उन की उदासीनता के कारण भी उन की कविताएँ बहस का विषय नही बनी। इस का एक कारण सम्भवतः यह भी रहा कि सातवें दशक के उत्तरार्द्ध मे जब उन का पहला कविता-संग्रह 'मछलीघर' प्रकाशित हुआ तो कविता में एक आवेशपूर्ण मुहावरे का माहौल था जिस मे 'सपाटबयानीवाद' और 'अकवितावाद' दोनो एक साथ हावी थे। अत एक ऐसे कवि की ओर पर्याप्त ध्यान नही दिया जा सका जो बिल्कुल अलग प्रकार की कविता लिख रहा था, यद्यपि मलयज जैसे गम्भीर आलोचकों का ध्यान तब भी उन पर गया था।

चीख और आवेश के घटाटोप के छँट जाने पर जब पुनः कविता मे संयत स्वरों की प्रासगिकता की पहचान उभरने लगी तो स्वाभाविक ही साही की कविताओं के प्रकाशन की माँग भी कवि-समाज मे बढने लगी। उनके

असामयिक निधन के बाद यह माँग और तीव्रता से महसूस की गयी और उनके आलोचनात्मक लेखन की दो पुस्तकें व कविता-संग्रह एक साथ प्रकाशित हुए। 'साखी' की कविताएँ एक बार फिर हमें साही के विशिष्ट कविरूप से साक्षात्कार का अवसर देती है।

इसी सग्रह की 'राघव की तलाश मे....' कविता मे साही कहते हैं :

पीछे से किसी ने मेरे कधे पर हाथ रख कर
अपना समूचा बोझ डालने की कोशिश की
मैंने बहुत आहिस्ता से उस का हाथ हटा दिया
सिर्फ इसलिए कि मैं चाहता था
वह अपने पैरो पर खड़ा हो।
न इस मे अहकार था, न क्रोध, न स्वार्थ
सिर्फ एक आदत जिसे मैं ने यो ही
अर्जित कर लिया है।

ये पक्तियाँ साही के व्यक्तित्व को ही नही, उन के कवित्व को भी समझने की कुँजी है। कुछ कविताएँ ऐसी होती हैं जो चीख-चीख कर अपनी सहानुभूति का दावा करती हैं और इस सहानुभूति को एक ऐसी खूँटी की तरह पेश करती है जिस पर पीडित आदमी अपनी चिन्ताओ और दुखो का बोझ टाँग कर निश्चिन्त हो जाय, तो दूसरी ओर कुछ अन्य कविताओ की ठण्डी और तटस्थ मुद्रा मे उस के लिए कोई सरोकार नही रहता। साही की कविता इन दोनो रास्तो से अलग एक तीसरा रास्ता अख्तियार करती है जिस मे न तो पाठक को अपने साथ ही आवेश मे बहा ले जाने की मशा है और न ही केवल बौद्धिक सरोकार—उस मे एक अजीब-सी कोमलता है जो सकट के घनेपन मे किसी रूखी और फटी चमड़ी वाले खुरदरे, किन्तु हमदर्द हाथो के स्पर्श मे महसूस होती है; जो कोई सन्देश नही देती बल्कि अपने सकट का सच्चा अहसास और उसी में से उभरते अपने धैर्य, संयम और ताकत का अन्दाजा करवाती है। साही की कविताओं में खरी आत्मीयता है जो हमें अपने ही अन्दर से ताकत जुटाने को प्रेरित करती है, किन्ही अन्य कधो पर—चाहे वह कोई नेतृत्व हो या सगठन—लटक जाने की विवशता नही पैदा करती, बल्कि ऐसी किसी भी प्रवृत्ति से सचेत करती है :

क्या तुम नही जानते
कि देवता जब भी वरदान देते है
तो उन मे एक नही कई अर्थ होते हैं ?
तुम्हारे भय के कारणो का शमन कर दिया गया है
लेकिन तुम्हे निर्भय नही किया गया
क्योंकि अब तुम्हे कुहराम से नही
सन्नाटे से भय लगेगा ...

मै पूछता हूँ
हर प्रार्थना के मजूर हो जाने के बाद
हर बार एक नया भय
तुम्हारी आत्मा के किस हिस्से से उपजता है ?
लेकिन सोचो
तुम्हे कोई दूसरा निर्भय नही कर सकता ।

(—वरदान देने वाले...)

और शायद यही कारण है कि साही की कविता में न तो उक्ति-प्रियता है और न बिम्ब-बहुलता । उन की कविता एक काव्यलोक की रचना तो करती है पर वह एक सक्रिय काव्यलोक है जिस में निरन्तर कुछ घटित होते रहने का अहसास बना रहता है—कभी वह उस घटने का वर्णन करती है तो कभी एक नाटकीय अन्दाज में उसे प्रस्तुत करती है—कविता में नाटकीय अन्दाज की कहानी की तरह । यह ऐसी तकनीक है जिस से कई बार सामान्य पाठक कुछ अनमना हो सकता है क्योंकि हिन्दी कविता अभी भी मुख्यतया सूक्तियो और उपमानो-बिम्बो पर आधारित रही है और हिन्दी का बडे से बडा कवि इन मे मुक्त नही है । यदि कभी इन से मुक्ति मिली है तो एक आवेश के सहारे सपाट गद्यात्मकता से कविता का अहसास पैदा करने के प्रयत्न हुए है । हिन्दी में साही ऐसे कवि है जो उक्तियो और उपमानो-बिम्बो की प्रवृत्ति से और आवेश मुद्रा से बचते हुए थिर आवाज में ऐसे काव्यलोक की रचना करते है जिस में वस्तुएँ और कार्य-व्यापार बिल्कुल स्पष्ट है और भाषा भी बिल्कुल सादा; लेकिन उन की पृष्ठभूमि में एक रहस्यमय तनाव है और अपनी सारी संरचना में कविता उसी को सम्प्रेषित करने की कोशिश करती है :

रात भर यह जगल यो ही रह रह कर
काँपता रहता है

अन्त में कभी चिंघाड़ दब जाती है
कभी दहाड़ का गला घुट जाता है
और इस बीच सन्नाटा
दम साधे हुए अन्त की प्रतीक्षा करता है।

(—जंगल)

साही की कविता मे अपने समय की त्रासद दशा का पूरा अहसास है पर वह न उस का कोई सपाट विश्लेषण करती है और न ही उस का मातम मनाती या आत्म-दया के अंधे-कुँएँ मे धकेलती है। वह उस अहसास को पूरे काव्य-संयम के साथ सम्प्रेषित करती है—किसी निष्कर्ष की तरह नही, बल्कि अहसास की तरह और शायद यही कारण है कि उन की अधिकांश कविताएँ एक बार से ज्यादा पढ़े जाने की मांग करती है क्योंकि पहली बार मे हम कुछ पंक्तियों या कभी-कभी तो सिर्फ टोन को लेकर ही लौट आते है। लेकिन ये पंक्तियाँ हमे चैन से बैठने की अनुमति नही देती और बार-बार अपने स्रोत की ओर लौटा ले चलती हैं और कविता धीरे-धीरे खुलने लगती है। लेकिन यह खुलना हमें किसी गद्यात्मक अर्थ तक नही ले जाता—कोई अजब नही कि हिन्दी के अध्यापक इन कविताओ का पढ़ाया जाना बहुत मुश्किल मानें!—बल्कि शब्द हमारे अन्दर उतरते जाते है—कही-कही मन-को थोड़ा छीलते हुए। कविता पढ चुकने पर एक गूंज बचती है जो हमारे मन की पीडा और कविता के शब्दों के बीच एक थरथराते तनाव की तरह मँडराती रहती है। हम निश्चय ही वही नही रह जाते जो कविता पढने से पहले थे, हम किसी ऐसे रहस्य के साझीदार हो जाते हैं जिसे हम महसूस तो करते हैं पर गद्यात्मक तरीके से नही कह सकते क्योंकि ऐसा करने की कोई भी कोशिश असफल तो होगी ही, कविता को भी खंडित या विकृत कर देगी। साही सचमुच ऐसी कविता लिखते है जो कविता के शब्दों में नही है, बल्कि हमारे मन और कविता के बीच है। और शायद आधुनिक मन की एक त्रासदी यह भी है कि कुछ भी कहना उस के लिए निरर्थक होता जा रहा है। साही की कविताओं की यह विशेषता ही उन की सर्जनात्मक प्रामणिकता को सिद्ध करती है और यह भी बताती है कि सारे बौद्धिक विश्लेषण के बावजूद कोई सच बच रहता है जो सिर्फ कविता होता है।

यह सच सनातन है और इसीलिए तात्कालिक भी। स्थूल सन्दर्भ सच को नष्ट तो नही करते पर उसकी व्याप्ति को एकायामी कर देते हैं—काल में ही

नही, परिस्थिति में भी जबकि तात्कालिकता से पूर्ण अलगाव काल का मानवीय अतिक्रमण नही बल्कि मानवहीन कालहीनता की निरर्थकता मे गिरा देता है। इसीलिए साही की कविता की सरचना गतिमय मूर्त स्थितियो पर आधारित है जिन की नाटकीयता सन्दर्भों की स्थूलता के बिना भी मानवीय जीवन के दुःखद अहसास को तात्कालिकता के चौखटे मे जड़ देती है। शायद यही कारण है कि उन की कविता स्थूल सन्दर्भों के अभाव के बावजूद अपने समय से उपजने का अहसास देती है। शायद इसी कारण 'मछलीघर' की भूमिका मे साही ने अपनी कविताओ को 'उस आन्तरिक एकालाप को पकड़ने की कोशिश' कहा था, 'जो आज के इस अनैतिक और विशृंखल युग मे बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी की तरह महसूस होता है', और शायद इसी कारण 'मछलीघर' की समीक्षा करते हुए मलयज जैसे आलोचक ने भी उन्हे 'एकालापी कवि' कह दिया था। लेकिन यह सही नही लगता। ये कविताएँ 'आन्तरिक एकालाप' को पकडने की कोशिश जरूर करती है, पर पाठक को भी उस कोशिश मे बार-बार साथ उतारती है। अतः ऐसी कविता एकालाप होकर नही रह जाती, वह पाठक से आन्तरिक एकालाप के संवाद की कविता हो जाती है।

> क्या सचमुच तुम दुश्मन हो ?
> फिर तुम्हारा नाम इतना घरेलू क्यो लगता है
> जैसे कल तक किसी ने
> खुद मुझे इस नाम से
> पुकारा हो ?
>
> (—एक दुश्मन के लिए)

> क्या तुमने भी हर आवृत्ति से
> दो चार दास्तानें जमा कर ली है
> जिन्हें कृतज्ञ होकर
> तुम बार-बार उलटते-पलटते हो
> और उन-के बीच
> अपने चेहरे को पहचानने की कोशिश करते हो ?
>
> (—लय)

साही हिन्दी मे अपनी तरह के विशिष्ट कवि है जिन्हे किसी अन्य कवि के साथ कोष्ठबद्ध नही किया जा सकता। मलयज ने उन्हे 'स्मृतियों के ऐंद्र-

जालिक वातावरण का कवि' कहा है, लेकिन 'साखी की अधिकांश कविताएँ स्मृतियों से नही, घटित हो रहे होने के वातावरण अर्थात एक निरन्तर वर्तमान की कविताएँ हैं। यह सही है कि जातीय स्मृति की कुछ कथाओं का इस्तेमाल वे करते हैं, लेकिन यह इस्तेमाल किसी स्मृतिलोक की रचना के लिए नही होता बल्कि वर्तमान के चौखटे में किसी आद्य-स्थिति को रख कर देखने के लिए है और शायद इसीलिए 'पहाड़ियाँ, जंगल और आदमी' 'सत की परीक्षा' तथा 'क्या करूँ, जैसी कविताएँ हमे किसी अतीत का नही वर्तमान का अहसास कराती हैं, यद्यपि अन्तिम कविता कुछ सपाट अवश्य हो जाती है। अपनी अनुभतियो को घटनाओ की तरह वर्णन करने की प्रवृत्ति के कारण तथा कुछ हद तक स्थितियो का विश्लेषण नही उन के अहसास के सम्प्रेपण के कारण भी साही कई बार अपनी कविता मे फँटेसी बुनते हैं और यह प्रवृत्ति 'मछलीघर' मे और भी अधिक थी। लेकिन पाठक इस मे से गुज़रते हुए न आवेश महसूस करता है और न भय और आतंक, जैसा कि मुक्तिबोध मे होता है। दरअस्ल, मुक्तिबोध की कविता मे फँटेसी के होने का अनुभव इतना सम्प्रेपित नही होता जितना कवि का भावावेग। अत· फँटेसी का प्रयोग करते हुए भी उन की कविता आवेश की कविता है। साही अपनी टोन को सयमित रखते हैं और इसी कारण पाठक तक आतंक या आवेश नही बल्कि संकट मे भी धैर्य न खोने वाले व्यक्ति का अपनी परिस्थिति से सवेदनात्मक साक्षात्कार सम्प्रेपित होता है, जो बाद के कवियो में अलग-अलग तरह से कमलेश और विनोद कुमार शुक्ल जैसे रचनाकारो में भी दिखायी पड़ता है। ये लोग भी फँटेसी का इस्तेमाल उन्ही उद्देश्यो के लिए करते है जो साही के भी हैं।

यह उम्मीद की जानी चाहिए कि साही की कविता की इसलिए उपेक्षा नही की जायेगी कि वह पाठक के सिर पर सवार नही होती और न उसके दर्द को सहलाती या उसे चीखता सुन कर गलदश्रु हो जाती है। वह अपने समय पर विचार करती है पर विश्लेपण या बहस के रास्ते नहीं बल्कि सवेदना और अनुभूति के रास्ते। चारों तरफ जब कविता में विचार ठूँसने या विचार को सवेदना से छूकर काव्यात्मक बनाने के प्रयास हो रहे हों, साही की कविता सिर्फ यह जानने के लिए भी पढी जा सकती है कि कविता भी विचार करती है और यह भी कि कविता के विचार करने और कविता में विचार करने मे क्या फ़र्क है!

कविता जिस में वेदना की पहचान है

कुछ वर्ष पूर्व एक साक्षात्कार मे रघुवीरसहाय ने कहा था कि वे स्वय को समाज मे 'मिसफिट' महसूस करते है और इसलिए लिखते है कि इस तरह के 'मिसफिट' लोगो की जमात को बढा सके। मै नही जानता कि रघुवीरसहाय अपने इस कथन मे कोई परिवर्तन करना चाहते है या नही लेकिन उन के काव्य सग्रह 'लोग भूल गये है' की कविताएँ निश्चय ही अब भी यह काम बखूबी कर रही है। कविता यदि अपने समय मे अपने को समझने को कोई प्रक्रिया है तो तय है कि इस प्रक्रिया से गुजरने पर कोई भी लेखक और इसलिए उस का पाठक भी इस मे अपने को 'मिसफिट' ही महसूस कर सकता है। जिस समय मे हम जी रहे हैं उसकी प्रक्रिया इतनी निर्मम, अमानवीय और तेज है कि किसी भी प्रकार की मानवीय सवेदना का उससे कोई रागात्मक रिश्ता हो ही नही सकता।

रघुवीरसहाय के कवि की गति यह है कि वह समय की इस प्रक्रिया में 'मिसफिट' है और शायद इसीलिए समय के अन्धे प्रवाह को समर्पित नहीं है। 'मिसफिट' होने का अनुभव अपने आप में परिस्थितियो को बदलने की आकाक्षा का ही रूप है और 'लोग भूल गये है' की कविताओ मे यह आकाक्षा एक सर्जनात्मक स्तर पर प्रकट होती है। ये कविताएँ अपने समय की भयावहता का पूरा अहसास कराती है लेकिन उस के सम्मुख व्यक्ति को निरुपाय नही करती और इसीलिए न तो घनघोर निराशा के वातावरण में पाठक को निस्तेज करती हैं और न उस के मन में किसी छद्म आशावाद को ही जगाती है। अपने समय के आतक को ये कविताएँ छोटी-छोटी घटनाओं के अनुभवों के रूप मे हमारे सम्मुख रखती हैं और साथ ही आस्था के, मनुष्य होने के छोटे-छोटे क्षणों को भी इस तरह आलोकित करती हैं कि अपने समय की पूरी भयावहता के परिप्रेक्ष्य मे व्यक्ति के अपने यत्किंचित सामर्थ्य की सीमा और सार्थकता का अहसास होता रहता है:

यह ताकत आज से पहले तुम्हारी आवाज में
नही थी, तुम्हारे विचार मे भी दम नही था
पर आज जब तुम ने मेरे विचार ले लिये हैं
और उन्हें सत्ता की ताकत से कहा है
तो उस पर एक ख़ास तरह की हँसी आती है
पर मैं उसे दबाता हूँ क्योंकि मैं
तुम्हारे हाथों
अपने विचार की बरबादी बचाने के लिए
अपने विचार को अपनी ही तरह कहने के लिए
रखता हूँ। और तुम्हे एक अन्धी गली मे फँसने के लिए
छोडता हूँ।"

अपनी बात की पुष्टि मे मैं इस सग्रह की 'प्रेम' 'नन्ही लडकी' या 'मेरी दुनिया' जैसी अन्य कविताओं के उद्धरण भी देना चाहता हूँ लेकिन रघुवीरसहाय की एक खूबी यह भी है उन की कविताओ मे से उद्धरण निकाल पाना बहुत मुश्किल है, अधिकाशत. उन्हें पूरा ही उद्धृत करना आवश्यक होता है जो यहाँ सम्भव नही। उद्धरण योग्य उक्तियाँ अक्सर अनुभव को एक निष्कर्षात्मक रूप देती है जबकि रघुवीरसहाय की कविताएँ कोई सपाट निष्कर्ष नही निकालती, वे एक अनुभव-स्थिति को पाठक के सम्मुख रख देती है—इस तरह कि पाठक स्वय ही उस अनुभव को समझने और अपने निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए व्यग्र हो जाता है।

सम्भवतः यही कारण है कि रघुवीरसहाय की कविताओ की भाषा मुक्तिबोध और घूमिल से बिल्कुल अलग है। ये कवि भी अपने सामाजिक परिवेश और समय को समझना और उस को बदलना चाहने वाले माने जाते रहे है। लेकिन इन दोनो की भाषा मे एक तीव्र आवेश है यद्यपि दोनो का प्रकार अलग है और दोनों उस मे अलग काम लेते हैं। मुक्तिबोध अधिकाशतः एक गद्यात्मक भाषा को अपने तीव्र आवेश से कविता बनाने का प्रयत्न करते हैं तो दूसरी ओर घूमिल उस मे चमत्कारपूर्ण उक्तियो की रचना करते और पाठक को उस मे अपने साथ बहा ले जाना चाहते हैं। यह अकारण नही है कि इन दोनो कवियों की बेहद तारीफ के बावजूद आज की सार्थक कविता मुक्तिबोध या घूमिल के रास्ते पर नही है। इन कवियो के सिद्धान्तों का तो कुछ असर

कुछ कवियो पर फिर भी हो सकता है लेकिन इन के मुहावरे का इन की कविता की बनावट का प्रभाव इन के बाद की पीढी की कविता पर नही है।

'लोग भूल गये हैं' की कविताओ की भाषा न आप को डराती है, न डुबाती या बहाती है। वह धीरे-धीरे आपसे आत्मीयता स्थापित करती है—एक ऐसी आत्मीयता जो गलदश्रु नही है और न आप के दुखों पर किसी तरह की असमर्थ उत्तेजना का प्रदर्शन करती है। वह अपनी आत्मीयता से आप में यह अहसास पैदा करती है कि आप स्वय ही अपने दुख को समझ सकते हैं और यह समझ सकना ही उसे मिटा सकने के लिए आवश्यक आत्मविश्वास आप मे जगाता है। यही कारण है कि रघुवीरसहाय की कविताएँ किसी कृत्रिम भविष्यवाद का सहारा नही लेती और न अगले ही क्षण आप को हथियार उठा लेने के लिए उत्तेजित करती है। वह अपने समय को एक अनुभव की तरह आप के सम्मुख खोलती और आप मे अन्याय का विरोध करते रहने की, एक अन्यायपूर्ण व्यवस्था मे 'मिसफिट' बने रहने की शक्ति का सचय करती है। छोटे-छोटे सवालो को उठाकर जिस तरह अहिंसक सत्याग्रह मे साम्राज्यवाद के आतक को बौना किया जा सकता है, उसी प्रकार आज के इस आतकपूर्ण माहौल मे रघुवीरसहाय की कविताएँ छोटी-छोटी घटनाओ के अनुभवो के माध्यम से इस आतक का अहसास कराती हुई हमे उसके लाफ़िख खड़ा करती है। कहना चाहिए कि वे तत्काल किसी क्रान्ति की उत्तेजना पैदा नही करती बल्कि स्वय व्यक्ति मे, पाठक मात्र में सीमित सामर्थ्य के बावजूद अन्याय के खिलाफ होने की प्रेरणा देती है :

> बार-बार एक दासता से दूसरी मे कम या ज्यादा
> आजाद होते हुए
> उतनी देर मे मैं बना लूँ एक दुनिया अपने भीतर
> और बाहर तक पहुँचा दूँ
> ताकि वह नष्ट न हो और जब दोबारा एक बार
> घर बदलूँ
> वह दुनिया मेरी कुछ बड़ी हो गयी हो।
>
> (—मेरी दुनिया)

फिल्मी गानो, संवादो और प्रसार के लोकप्रिय कहे जाने वाले साधन एक कृत्रिम उत्तेजना का वातावरण पैदा कर भाषा को चेतना के विकास का नही बल्कि उसे पाठक, श्रोता को एक अविचारित उत्तेजना मे बहा देने का माध्यम बनाते जा रहे हैं। भाषा की इस भगिमा का असर कथित क्रान्तिधर्मी

कविता पर भी रहा है जिस मे चुस्त फिकरो और उत्तेजनापूर्ण वक्तव्यों पर जोर रहा है। यह एक प्रकार से वाचिक परम्परा की कविता में अत्यधिक प्रतिष्ठित उक्तिवैचित्र्य का ही रूप है जिस से सामने बैठे श्रोता को तुरन्त चमत्कृत कर देने का उद्देश्य पूरा होता था। रघुवीरसहाय की कविताएँ अपने अस्तित्व से ही भाषा के इस इस्तेमाल का विरोध करती और उस की बुनियादी सार्थकता को पुनः प्रतिष्ठित करने की कोशिश करती हैं। कविता मे बौद्धिकता का तात्पर्य विचारो को कविता बनाना नही है। उस का तात्पर्य है आत्म-नियन्त्रण, अपने अनुभव की अभिव्यक्ति की अनावश्यक स्फीति के प्रति सजगता। यही कवि की आत्मसजगता है जिसे भुलाया जा रहा है और जो "लोग भूल गये हैं" की कविता मे बराबर मौजूद है। इन कविताओं मे सवेदना, परिवेश, भाषा, लय, और हाँ, विचार भी—इस प्रकार एकमेक हो जाते हैं कि उन्हें अलग-अलग महसूस या विश्लेषित करना काव्यानुभूति की हत्या कर देने जैसा हो जाता है। रघुवीरसहाय की कविताओं में यह प्रवृत्ति प्रारम्भ से है और 'सीढ़ियों पर धूप मे' से लेकर समीक्ष्य काव्य-संग्रह तक इस का विकास ही होता गया है। 'बलात्कार' कविता को उद्धृत किया जा सकता है :

> औरतो के चेहरे समाज के दर्पण है
> पुरुषो जैसे
> किन्तु जो दर्द दिखलाते है उन मे मिठास है
> पुरुष गिडगिडाते हैं औरतें सिर्फ चुपचाप थाम लेती हैं बेबसी
>
> कोई शरीर नही जिसके भीतर उस का दुख न हो
> तुम उस मे जब प्रवेश करते हो और वह नही मिलता
> वही है बलात्कार
> बाकी है प्रेम और दोनो के बीच की कोई स्थिति नही है।

ये कविताएँ सजग करती हैं, बहाती नही। दरअस्ल भाषा के इस्तेमाल के प्रति इस सजगता और अपने मे डुबा लेने की रोमांटिक प्रवृत्ति के प्रति रघुवीर सहाय की असहमति के कारण ही ये कविताएँ सामान्य पाठको को अपनी ओर एकबारगी ही उतना आकर्षित नहीं करती क्योंकि उक्तिवैचित्र्य और आवेश-पूर्ण वक्तव्यों मे डूबा मन सहज और जगाने वाली भाषा के प्रति एकाएक उत्सुक नही हो पाता। इसलिए रघुवीरसहाय की ये कविताएँ एक बार जहाँ कुछ झुँझलाहट पैदा करती है वही इस झुँझलाहट के कारण पढ़ लिये जाने पर

दुबारा अपनी ओर आकर्षित करती है—इसलिए ये कविताए एक से अधिक बार पढ़े जाने की मांग करती है क्योंकि इन्हें किसी जल्दी में पढना इन के साथ अन्याय करना होगा। इन्हें पढकर पाठक न लीन होता है न मुग्ध—वह कभी-कभी कुछ अनमना-सा हो सकता है क्योंकि ये कविताएँ उसे अपने समय मे ही नही अपने में झोंकने के लिए भी कोचती है।

यह शिकायत की जा सकती है कि रघुवीरसहाय की कविता बड़ी दार्शनिक गुत्थियों की ओर, बडे सवालो की ओर नही ले जाती। लेकिन यह कहना गलत होगा। यह कहा जा सकता है कि वह बडे सवालो को दार्शनिक भगिमा मे नही उठाती—वह उन्हे एक जीवित स्थिति की तरह सामान्य मुद्रा मे उठाती है क्योंकि वह सामान्य जिन्दगी मे ही सभी सवालो को देखती और उन के हल खोजना चाहती है। मनुष्य की स्वतन्त्रता, समानता और गरिमा से बडा सवाल और क्या हो सकता है ? और रघुवीरसहाय की हर कविता इसी सवाल से निरन्तर जूझती नजर आती है। स्वतन्त्रता का दमन, मानवीय गरिमा पर आघात केवल वही नही है जहाँ किसी विशिष्ट व्यक्ति, किसी बडे लेखक या बौद्धिक को अपने विचार प्रकट करने नही दिये जाते—वह वहाँ भी उतनी ही ताकत से मौजूद है जहाँ

"अद्वितीय हर व्यक्ति जन्म से होता है
किन्तु जन्म के पीछे जीवन मे जाने कितनो से यह
अद्वितीय होने का अधिकार
छीन लिया जाता है
और अद्वितीय फिर वे ही कहलाते है
जो जन के जीवन से अनजाने रहने मे ही
रक्षित रहते हैं

अद्वितीय हर एक है मनुष्य
ओ' उस का अधिकार अद्वितीय होने का
छीन कर जो खुद को अद्वितीय कहते हैं
उनकी रचनाएँ हो या उनके हो विचार
पीडा के एक रसभीने अवलेह मे लपेट कर
परसे जाते है तो उसे कला कहते हैं !"

(—कला क्या है)

इसलिए ज्यादा सही होगा यह कहना कि रघुवीरसहाय उस तरह के बौद्धिक कवि नही हैं जो दार्शनिक गुत्थियो से उलझते है लेकिन वे मूर्त स्थितियों मे मानवीय सार्थकता की तलाश करते है जो आधुनिक सन्दर्भ मे महत्त्वपूर्ण काम है क्योकि मानव पर की गयी सारी दार्शनिक बहसों के बावजूद मनुष्य को मनुष्य न रहने देने को कटिबद्ध शक्तियाँ उफान पर हैं। यह नही है कि दार्शनिक भगिमा की कविता कुछ ज्यादा बड़ी या छोटी कविता होती है लेकिन कविता कवि के समग्र व्यक्तित्व का फल होती है। हर व्यक्ति का और इसलिए कवि का भी अपना एक रुझान होता है जो चीजों को और अपने को अपनी तरह से समझना और उन से एक रिश्ता कायम करना चाहता है। अतः आवश्यकता यह होती है कि हम कवि के अपने तरीके को समझें न कि उसे हमारी आकाक्षाओ के अनुरूप ढालने की माँग करें।

दार्शनिक सवालो पर भी कविताएँ हो सकती है और बहुत अच्छी कविताएँ हुई है लेकिन रघुवीरसहाय की खूबी यह है कि वे दार्शनिक पेचीदगियो मे गये बिना सामान्य मूर्त दशाओ को बड़े सवालों से जोड़ते और इस प्रक्रिया मे उतनी ही अच्छी कविता हासिल करते है। उन की कविता सही मायने मे सामान्य जन की अद्वितीयता की कविता है। वह उस के हालात पर कोई वक्तव्य नही है, वह उस के दुख और उसके सुख की पड़ताल की प्रक्रिया मे से प्राप्त कविता है जो अपने पाठक पर भी अपने निष्कर्षों को थोपना नही चाहती बल्कि उसे इस पड़ताल मे शामिल करती है। 'कल के लिए' कविता मे कहते हैं:—

यही सब लिखता हूँ
क्योकि जो चारो ओर लोग हैं उन को विश्वास नही
तभी तो लिखता हूँ
वे नही समझते
वे अपनी ही बात समझना चाहते है
मैं उन की भाषा मे नही कह रहा हूँ
फिर भी मुझे उन से अपना लिखा छिपाना नही है
क्योकि उसे दिखा कर ही जाना जा सकता है
कि मैं ने जो कहा
कल कहीं और
वह समझा जायेगा या नही समझा जायेगा।

अपनी भूमिका मे रघुवीरसहाय ने कहा है : 'कवि कही क्रान्ति का पुजारी और मसीहा एक साथ बनकर दिखाने मे अपने कर्तव्य से भागने का रास्ता न निकालने लगे, या कही आत्मदया के आत्मपीड़क भाव में लिप्त होकर लोगो से वैसी सहानुभूति न मांगने लगे जो न केवल लोगो की रागात्मक शक्ति का शोषण करेगी बल्कि उन्हे स्वयं अपनी वेदना पहचानने मे भटकायेगी।' कहना न होगा कि रघुवीरसहाय की कविताएँ भटकाव की नही अपनी वेदना की पहचान की कविताएँ है।

काँपता हुआ शब्द

किसी कवि की रचनात्मक प्रतिभा के स्वीकार की एक पहचान यह भी हो सकती है कि उस की कविताओं का एक भी संग्रह प्रकाशित न हो और फिर भी कम से कम तीन दशकों से भी अधिक समय तक निरन्तर वह साहित्यकारों और साहित्यप्रेमियों की सभी पीढ़ियों में एक उल्लेखनीय कवि के रूप में समादृत रहे। नन्द चतुर्वेदी एक ऐसा ही कविनाम है। उन की कविताओं के प्रकाशन की मांग प्रदेश के लेखकों और साहित्यिक रुचि के पाठकों में पिछले कुछ अर्से से तीव्र होती जा रही थी। यह निश्चय ही हिन्दी के प्रकाशन जगत की दरिद्रता ही है कि नन्द चतुर्वेदी जैसे रचनाकारों की कविताओं का पहला सग्रह तब प्रकाशित हो जब वह अपनी उम्र के साठ वसन्त देख चुके हों। इस दृष्टि से उनके कविता-सग्रह "यह समय मामूली नहीं" का प्रकाशन साहित्य-जगत की एक सुखद घटना है।

नन्द चतुर्वेदी उन रचनाकारों में है जो अपने रचना-कर्म के माध्यम से मनुष्य की बेहतरी के लिए जारी संघर्ष के साथ होते हैं, लेकिन साथ ही लेखक की स्वाधीनता के लिए पूर्ण सजग रहते हैं क्योंकि उन जैसे रचनाकारों की दृष्टि में लेखकीय स्वाधीनता मनुष्य की स्वाधीनता—और हाँ, उस की समता के लिए किए जा रहे सघर्ष का भी एक अनिवार्य पहलू है। उन की कविताएँ बार-बार उन हालात का अहसास कराती हैं जो मानवीय स्वाधीनता और समता पर आघात करती हैं और सभी तनावों और दबावों को महसूस करते हुए मानवीय भविष्य में आस्था के अदम्य स्वर उसी तरह उभर आते हैं जिस तरह काली पथरीली चट्टान को फोड़कर कोई हरी कोपल। उन की कविता को उन्हीं के शब्दों में समझना चाहें तो इन पंक्तियों पर ध्यान देना होगा :

ऐसा समय है
बिल्कुल रुका हुआ
(तो भी) पेड़ों पर हवाओं का दबाव है
जल काँपता है थोड़ी-थोड़ी देर बाद

शायद सारी ऋतुओं की मृत्यु नहीं हुई है।
(–कोई दुर्घटना हुई है)

अपने समय के अहसास का दावा करने वाली कविताई अक्सर स्थूल सन्दर्भों से ऊपर नहीं उठ पाती और उन सन्दर्भों का इस्तेमाल भी अधिकाशतः सपाट स्तर पर ही कर पाती है। इस तरह की अधिकांश कविताएँ या तो एक कृत्रिम विद्रोह-मुद्रा का शिकार हो जाती हैं या एक आवेशपूर्ण चीख का माहौल रचती हुई भाषा को गाली-गलौज की सीमा में ले जाती है। ये दोनो ही रास्ते भाषा की शक्ति और सम्भावनाओं को दुर्बल करते है। कविता यदि रचना है तो उसमे एक काव्य-सयम की दरकार बराबर बनी रहती है। भाषा यदि हथियार हो भी तो उस का सधा हुआ इस्तेमाल ही इस को सार्थक करता है, उस का अन्धाधुन्ध इस्तेमाल न केवल कवि के असामर्थ्य को बताता है बल्कि भाषा मात्र की काव्यात्मक विश्वसनीयता पर आघात करता है। इन्हीं अर्थों मे कवि की पहली जिम्मेदारी अपने माध्यम के प्रति, भाषा के प्रति मानी गयी है। कहना न होगा कि नन्द चतुर्वेदी की कविता मे इस जिम्मेदारी का पूरा अहसास है और इसलिए चालू विद्रोह-भगिमाओं और आत्म-प्रदर्शन से अपने को बचाती हुई वह अपने समय-सन्दर्भों को मानवीय करुणा और आस्था के बुनियादी स्तरों तक ले जा कर भाषा को अर्थहीन बनाए जाने की सारी चालाकियों के खिलाफ एक विश्वसनीय काव्य-लोक रचने का प्रयास करती है—ऐसा काव्य-लोक जिस मे आज के मनुष्य की आशकाएँ और आकाक्षाएँ, उस की दुर्बलता और उस का साहस तथा उस का प्रेम और उस की घृणा एक साथ मूर्त हो सकें

ज़िन्दगी के पास कितनी रेत है
यहाँ आता है प्रेम
आती है ईर्ष्या और घृणा
और एक टूटी हुई बाँह
और एक मन्दार पुष्प
सब रख लिया है सिरहाने
कुछ देर के लिए धूप
कुछ देर के लिए पेड़
एक भविष्य, समुद्र-फेन-सी हँसी

मैं और एक कांपता हुआ शब्द

(—किस का इन्तज़ार)

यह 'कांपता हुआ शब्द' नन्द चतुर्वेदी की कविता का केन्द्रीय अहसास है जो एक नाटकीय टोन–मुद्रा नही–के साथ लगातार पाठक तक सम्प्रेषित होता रहता है और शायद यह नाटकीय टोन ही इस कांपते हुए शब्द को आस्था के गहरे स्रोत से जोड़ देता है । यह 'कम्पन' और उसी मे से उपजती यह 'आस्था' आज के मनुष्य की यन्त्रणा और उस के संघर्ष का काव्यात्मक प्रति-फलन है ·

किन्तु छोटी चिड़िया
कोई भी हो व्याघ्र या कि राक्षस
भेड़िया या बिल्ली या बाघ
वे अब कांपेंगे इन रास्तों पर चलते हुए
जहां तुम्हारे कोमल पंख बिखरे हुए है
धधकती हुई अग्नि की तरह ।

यह नाटकीय टोन ही है जो 'कोमल पंख' के 'धधकती हुई अग्नि' हो जाने को काव्यात्मक स्तर पर विश्वसनीयता देती है ।

असुन्दर से संघर्ष करते हुए सुन्दर का निरन्तर स्मरण नन्द चतुर्वेदी की कविता की एक उल्लेखनीय विशेषता है—बल्कि शायद यह सुन्दर का स्मरण ही है जो असुन्दर से संघर्ष मे उनकी आस्था को पुष्ट करता रहता है । यह केवल आकस्मिक नही है कि इस संग्रह की अधिकांश कविताओं मे प्रकृति और ऋतुओं के अहसास के साथ ही समय का अहसास जुड़ा है और इसीलिए इन मे ऐसे बिम्बो की बहुलता है जो गहरे और स्थूल दोनों स्तरों पर प्रकृति से जुड़े हैं । इसीलिए नन्द चतुर्वेदी अपने समय की यन्त्रणा और अपने संघर्ष और आस्था को ऋतुओं की भाषा में व्यक्त करते हैं । दो विपरीत मनःस्थिति के प्रकृति बिम्बों को एक साथ रखने की हिकमत से वह इतिहास मे मनुष्य की आशा और संशय और उन की ट्रेजेडी का एक साथ अहसास करवाते हैं :

कितने पास से गुज़रती है नदी
अपने जल के पुराने केंचुल छोड़ती हुई

कँच नीले जल वाली नदी
लेकिन रोमांच नहीं होता
सिर्फ सशय होता है
किसे देगी नदी अपना अरु
उन्ही को जो नदी के है
तब हम यही बैठे रहे उदास
तब इन्ही सूखे और सपाट होठो पर
या कि इन काल के ऊँडे खड्डो मे
तृषातुर जिन्दगी चक्कर लगाती रहे
कितने पास से गुजरता है इतिहास
लेकिन किस का ? भाग्यवान लोगो का
न शूरो का न पडितो का

(—शुरुआत का फैसला)

लेकिन लगता है कि सम्प्रेपण के अनिरिक्त आग्रह से नन्द चतुर्वेदी भी पूर्णत: मुक्त नही हैं और शायद यही बात है जो उन की कविता को कुछ-कुछ सपाट कर देती है। यदि इस कविताश मे 'काल', 'जिन्दगी' और 'इतिहास' शब्द न भी रखे जाते तो भी कविता उसी अनुभव तक ले जा रही होती—बल्कि शायद अधिक गहरे स्तरो पर—क्योकि पाठक या श्रोता की कल्पना का एक रचनात्मक साझा भी वहाँ होता। लेकिन कवि यह बताने के लोभ का संवरण नहीं कर पाता कि यह नदी इतिहास की नदी है। नन्द चतुर्वेदी निश्चय ही यह जानते होंगे कि कविता में कुछ बातें न कहना कई बार कहने से ज्यादा सार्थक होता है। लेकिन सम्प्रेपण का अतिरिक्त आग्रह कवि को कह देने के लिए उकसाता रहता है जिसका परिणाम कभी-कभी काव्यानुभव का सरलीकरण हो जाता है। यह दुर्भाग्य है कि नन्द चतुर्वेदी जैसे कवि भी इस आग्रह से हमेशा बचे नही रह सके हैं। यह बात इसलिए और अधिक खटकती है कि जो कवि अपनी कविता को सन्दर्भों की स्थूलता से बचाता हुआ अपनी भाषा और टोन में समकालीनता के अहसास के काव्यात्मक प्रतिफलन की कोशिश कर रहा हो, वह बात कह देने के लोभ का शिकार हो जाय। यह तो नही माना जा सकता कि नन्द बाबू वक्तव्य के सम्प्रेपण और काव्यात्मक सम्प्रेपण के फर्क को पहचानते नही हैं। तब वह क्या बात है जो उन्हें कई बार अपने बिम्बों के साथ वक्तव्य जोड़ने को उकसाती है—बल्कि तब यह सवाल भी उठना

चाहिए कि उन की कविताओ मे पारदर्शी बिम्बो के बावजूद अधिकांशत. सम्बोधन-मुद्रा क्यो है ? क्यों यह सम्बोधन-मुद्रा उन के कवि-स्वभाव का एक हिस्सा लगने लगती है और क्यो अधिकाशत कविताओ मे 'समय आ गया है' जैसे वाक्याश अपने को दुहराते है ? मुझे लगता है कि नाटकीय टोन के साथ यह लगातार सम्बोधन-भगिमा उन के काव्य-बिम्बो के गहराई में जाने का अवसर क्षीण कर देती है। और शायद यही कारण है कि उन के वक्तव्य, अधिकाशत. चकित तो करते हैं पर अपने अन्दर नही ले जाते और वक्तव्य जड देने की उनकी हिकमत कई बार उन के काव्य-बिम्बो की बहुआयामी अर्थ-गर्भिता के सम्प्रेषण मे अवरोध पैदा करने लगती है। 'युद्ध' पर लिखी गई कविताओ मे यह वक्तव्यात्मकता ही शायद वह प्रभाव पैदा नही करती जो 'काले जल वाली नदी' और 'हवाओ की दस्तक' जैसी कविताएँ कर पाती हैं; और जो प्रभाव देर तक कायम रहता है—किसी सिम्फनी के बज चुकने के बाद भी हवा में एक कम्पन की तरह देर तक महसूस होता हुआ। मुझे लगता है कि नन्द चतुर्वेदी की कविता को सर्वेश्वर की कविता के साथ रख कर देखा जा सकता है क्योकि बिम्बो के साथ वक्तव्य जड देने की यही प्रवृत्ति सर्वेश्वर मे भी नजर आती है यद्यपि नन्द बाबू में अपने प्रतीको को दूर तक जबर्दस्ती खीच कर ले जाने की वह प्रवृत्ति नही है जो सर्वेश्वर की कई कविताओं की गहराई को कम कर देती है—बल्कि सर्वेश्वर की तरह सपाट वक्तव्यात्मकता भी नन्द चतुर्वेदी मे नही है क्योकि उन के वक्तव्यो मे एक नाटकीय टोन बराबर मौजूद हैं जिस के कारण काव्यात्मकता का एक स्तर बराबर बना रहता है।

सम्भवतः यह सम्बोधन-मुद्रा ही नन्द चतुर्वेदी के–कम से कम इस सग्रह के कवि के–अपने मे गहरे उतरने में बाधक बन जाती है और इसी का एक परिणाम शायद यह है कि उन की कविता मे एक ओर निर्दोष है और दूसरी ओर दोषी। एक ही आदमी में दोषी और निर्दोषी दोनो एक साथ हैं, यह अहसास उन की कविता से नही जागता। दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि बाह्य यथार्थ का अन्वेषण तो उन की कविता मे है, लेकिन आत्मान्वेषण उतनी ही मात्रा मे नही। हाँ, जहाँ कही वह है, निश्चय ही अच्छी कविता के रूप में है.

वसन्त में मैं
पुनर्जन्मों की स्मृति में
होना हूँ एक कोपल

देह होती है
नदी आतुर तरंगमयी
बहती हुई रेत में उतरती हुई
हँसती हुई

इसी बसन्त मे मैं
पुनर्जन्मो की स्मृति मे
होता हूँ देह से भिन्न
देहान्तरो के बीच
एक काँपती हुई अभुक्त तृष्णा
ढूँढता हूँ हवाओ की साक्ष
होता हूँ गाछ–पत्ता
फैलता हूँ उन्ही पुनर्जन्मो की स्मृति मे
होता हूँ आकाश

(—बसन्त मे होना)

'काले जल वाली नदी' 'एक शब्द और निश्शेष' तथा 'विवशता' ऐसी ही कविताएँ हैं। लेकिन उन की सख्या से सन्तोष नहीं होता। मैं जानता हूँ कि इस एक कविता-सग्रह के आधार पर नन्द चतुर्वेदी की लम्बी और बीहड़ काव्य-यात्रा का कोई मूल्याकन सम्भव नही है, और यह डर भी है कि प्रकाशन मे इतना विलम्ब भी उन के सही मूल्यांकन मे एक बाधा न हो जाय। फिर भी आशा की जानी चाहिए कि इन कविताओ के साथ अन्याय नही होगा।

आत्मीय संवाद का अहसास

हमारे युग के हर सार्थक लेखक को अनिवार्यतः जिस अन्तर्द्वन्द्व मे से गुजरना पड़ता है, वह है अपने परिवेश के प्रति असन्तोष से उपजी सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा और साहित्य या कला मात्र की प्रकृति और सीमाओ का अहसास। इसी कारण कई बार अपने वैचारिक आग्रहो के बावजूद लेखक की सवेदना उस की रचनात्मकता को दूसरी दिशा की ओर ले जाती है और ऐसे मे उस का आन्तरिक द्वन्द्व और छटपटाहट और भी उभर कर अभिव्यक्त होते हैं। आधुनिक हिन्दी कविता मे जिन कवियों मे यह अन्तर्द्वन्द्व एक स्थायी प्रवृत्ति के रूप मे साफ देखा जा सकता है, उन मे पहला नाम शायद सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का होगा। अपने देहावसान से कुछ ही दिन पूर्व जयपुर मे आयोजित एक गोष्ठी मे सर्वेश्वर ने कहा था : "मेरे खयाल से अगर कोई यह सोचकर लिखता है कि कविता से वह समाज बदल देगा, तो उस से बड़ा बेवकूफ दुनिया मे कोई नही होगा। कविता लिखकर तो हम अपने अस्तित्व को सार्थक करते है। समाज कविता लिखने से बदल जायेगा या कविता हथियार जैसा कुछ है, यह सब तो राजनीतिक लोग कहते हैं। कवि यह नही मानता।" अब 'तीसरा सप्तक' मे प्रकाशित उन के आत्म-परिचय की इस पंक्ति पर गौर कीजिये : "आकांक्षा कुछ ऐसा करने की जिस से यह दुनिया बदल सके।" कोई कह सकता है कि कवि व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ उन के विचारो में परिवर्तन होता गया होगा और वे एक छोर से दूसरे छोर पर चले आये। पर मुझे लगता है कि यह एक प्रकार का सरलीकरण होगा क्योंकि हर आधुनिक लेखक अपने हर निष्कर्ष को बार-बार जांचते-परखते रहने के लिये विवश है—शायद अपनी अवधारणाओ, बल्कि अपने अनुभव तक के प्रति यह अनाश्वस्ति और सन्देहशीलता का भाव और साथ ही अपने अनुभव को ही सत्य मान सकने की विवशता के बीच का यह द्वन्द्व ही उसे आधुनिक बनाता है और यह द्वन्द्व सर्वेश्वर के रचना-संसार मे सर्वत्र व्याप्त है। यह क्या सचमुच संयोग ही है कि सर्वेश्वर जिन दिनो कविता को हथियार मानने के आग्रह का वैचारिक

स्तर पर स्पष्ट विरोध कर रहे थे, उन्ही दिनों लिखी गयी उन की कुछ कविताओ मे समाज परिवर्तन के लिए सघर्ष को प्रेरित करने का उद्देश्य सपाट गद्यात्मकता और स्पष्ट उपदेशात्मकता के स्तर पर पहुँच रहा था। 'जंगल का दर्द' के पहले खंड की 'भेड़िया', 'काला तेंदुआ', 'कुत्ता' और 'एक स्थिति' जैसी कविताओ मे यह प्रवृत्ति साफ दीख जाती है। उन के अन्तिम प्रकाशित कविता सग्रह 'खूँटियो पर टगे लोग' की कई कविताओ को भी इसी बात के प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया जा सकता है।

यह भी आश्चर्यजनक लग सकता है कि कभी-कभी इस तरह की सपाट गद्यात्मक कविता भी लिखने के बावजूद सर्वेश्वर विषय-वस्तु की बजाय शिल्प पर अधिक आग्रह करने लगे थे। 'तीसरा सप्तक' के अपने प्रारम्भिक वक्तव्य मे उन्होने लिखा था : *"मैं विषय-वस्तु को रूप-विधान से अधिक महत्त्व देता हूँ* और मानता हूँ कि सम्पूर्ण नयी कविता ने रूप-विधान से अधिक विषय-वस्तु पर जोर दिया है, चाहे उस के कवियो ने अपने वक्तव्यो मे जो भी कहा हो!" अब इस वक्तव्य को जयपुर मे दिये गये उन के वक्तव्य के समान्तर रखकर देखें : "मैं तो यही मानता हूँ कि आज की कविता मे अधिक कुछ हो गया है तो वह विषय का, कटेंट का आग्रह ही है। शिल्प को लोग भूल रहे हैं और इस पर अधिक ध्यान दे रहे हैं कि आप कितने मार्क्सवादी हो गये हैं, कितने जनवादी हो गये हैं. .जनवादी और प्रगतिवादी धाराओं का छद्म मुझे बिल्कुल पसन्द नहीं है, इसीलिये जहाँ भी 'वादी' शब्द आ जाता है, मैं उस के पक्ष मे नहीं हूँ क्योकि वहाँ दुराग्रह होता है।"

और यही सर्वेश्वर के इस रचनात्मक अन्तर्द्वन्द्व का कुछ समाधान होना दीखता है। हिन्दी मे अधिकांशत; यह धारणा स्वीकार की जाती रही है कि कविता मे सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा का तात्पर्य है कविता को कला न मान कर परिवर्तन का हथियार मानना और उस हथियार को किसी न किसी राजनीतिक मतवाद या दल के निर्देशो के अनुसार इस्तेमाल करना। सर्वेश्वर को हिन्दी के उन विशिष्ट कवियो के साथ रख कर देखा जाना चाहिये जिन का कृतित्व मानव-मूल्यो को तो पुष्ट करता है, लेकिन किसी संकीर्ण राजनीति को समर्पित नही होता। वे वास्तविक अर्थों मे निराला की परम्परा के कवि थे। मानव-मूल्यो के नाम पर कुछ आलोचक आजकल यह एतराज करते देखे जाते है कि यह तो एक अमूर्त धारणा है और इस के बहाने लेखक हमारे समय

की जीवन्त और मूर्त धारणाओं से बचना चाहते है। लेकिन सर्वेश्वर की कविता अपने समय की वास्तविक और मूर्त धारणाओ से सम्पृक्त होने का साक्ष्य बराबर देती है—फिर भी उन की कविता सामाजिक प्रतिबद्धता का आग्रह करने वाले अधिकांश आलोचको को स्वीकार नही हुई तो इस का कारण यही रहा कि सर्वेश्वर की प्रतिबद्धता मूल्यो के प्रति रही, विचारधाराओ के प्रति नही।

शायद यही कारण रहा कि सर्वेश्वर का द्वन्द्व कला और विचारधारा का द्वन्द्व नही था क्योकि कवि–कलाकार मात्र–के लिए विचारधारा को उन्होने कभी आवश्यक नही माना। उन के रचनाकर्म का उत्स विचार धारा या किसी भौतिक या आध्यात्मिक दर्शन मे नही बल्कि सहज मानवीय करुणा और सहानुभूति मे है। 'करुणा' शब्द आजकल कुछ पुराना माना जाने लगा है, किन्तु सर्वेश्वर की कविता को पढकर इस की नयी प्रासंगिकता समझ में आती है। सभी प्रकार के अन्तर्द्वन्द्वो के बावजूद सर्वेश्वर की कविता यदि विरोधाभासो की कविता नहीं लगती और प्रारम्भिक रचनाओं से लेकर सद्य-प्रकाशित कृतियो को पढते हुए एक भावात्मक संगति का, एक नैरन्तर्य का अहसास यदि बराबर होता रहता है तो उस का कारण उन के रचना-संसार के इस केन्द्रीय उत्स मे ही निहित है। हिन्दी के कई आलोचक अपने राजनीतिक दर्शन की सीमाओं के कारण उन्हे स्वीकार करने से हिचकते रहे तो कई आधुनिक बौद्धिक आलोचक इस 'करुणा' को भावुकता कह कर उन्हे खारिज करते रहे। ऐसा नही है कि उन की कविताओ मे भावुकता कही नही है, कही-कही तो उस के अतिरेक की वजह से ही उन्होने सपाट कविताएँ लिखी लेकिन यह आरोप उन के सम्पूर्ण रचना-कर्म पर नही लगाया जा सकता और न 'करुणा' और 'भावुकता' को सदैव पर्याय के रूप मे माना जा सकता है। सर्वेश्वर की बहुत-सी कविताओं मे 'करुणा' का यह भाव अपने उच्चतर और सूक्ष्मतर रूप मे उपस्थित है। एक निरन्तर अमानवीय होते जा रहे माहौल में मानवीय करुणा का यह भाव वस्तुत: मानवीय जिजीविषा का ही स्थानापन्न हो जाता है।

सर्वेश्वर की कविताओं की एक उल्लेखनीय चारित्रिक विशेषता उन की सम्प्रेषणीयता है। अपने परिवेश से गहरी सम्पृक्ति, मानवीय करुणा का भाव और उस से उत्पन्न मानवीय संवाद की आकांक्षा ने सर्वेश्वर को न केवल साधारण बोलचाल की भाषा की ओर बल्कि ऐसे बिम्बों की रचना की ओर

भी प्रवृत्त किया जिन का गहरा जुड़ाव अपने आस पास के परिवेश से हो। यही कारण है कि सर्वेश्वर के बिम्बो मे एक गहरी आत्मीयता मिलती है जो साधारण बोलचाल की भाषा के माध्यम से पूरी कविता में फैल जाती है। सर्वेश्वर की कविताएँ हमेशा एक आत्मीय संवाद का अहसास कराती हैं। तुलना को आत्यन्तिक मान लेने की वजह से अधिकाशत. गलत समझ लिया जाता है, जबकि उन का उद्देश्य आशिक लाक्षणिक समानता की ओर ध्यान आकर्षित करना होता है। यदि तुलना को सही अर्थ मे लिया जाय तो मैं कहना चाहूँगा कि एक स्तर पर जो आत्मीयता फणीश्वरनाथ 'रेणु' के गद्य मे मिलती है, कुछ उसी तरह का अहसास सर्वेश्वर की कविताओं के माध्यम से होता है। यह सिर्फ सयोग ही नही है कि नयी कहानी के रचनाकारो मे जिस ग्रामीण सवेदना का प्रतिनिधित्व 'रेणु' ने किया, नयी कविता के कवियो मे उस की सर्वाधिक प्रभावी अभिव्यक्ति सर्वेश्वर मे हुई। शायद इन सब प्रवृत्तियो ने मिलकर सर्वेश्वर के माध्यम से एक ऐसी कविता हमे दी जो हमारे समय के मानवीय सघर्ष और आकाक्षाओ की ही नही, एक अमानवीय माहौल मे मानवीय रागात्मकता की पुनर्प्रतिष्ठा की प्रतिनिधि कविता कही जा सकती है। कई स्थलो पर कलात्मक शिथिलता के बावजूद सर्वेश्वर की कविताओ के बिना आधुनिक हिन्दी कविता के किसी भी परिदृश्य को आज का पाठक सम्पूर्ण नही मानेगा। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि सर्वेश्वर अपनी पीढी के सर्वाधिक पढे जाने वाले कवि रहे—आलोचको और अकादमी के पूर्वग्रहो के बावजूद!

सर्वेश्वर की मृत्यु से हिन्दी ने अपने एक ऐसे रचनाकार को खो दिया है जो उस की आत्मीयता और सघर्ष की अदम्य प्रवृत्ति को एक साथ पुष्ट करते हुए उस की विश्वसनीयता को भी सँजोये रहने म रत रहा। सर्वेश्वर ने हिन्दी कविता मे गद्य की लय को स्थापित किया—यद्यपि उस के अतिरेक के कुछ कुप्रभाव भी बाद की पीढी पर दिखायी दिये, लेकिन स्वय उन की कविता इस नयी प्रवृत्ति का सशक्त उदाहरण रही। सर्वेश्वर की समग्र कविता को यदि तुलना के आधार पर समझने की कोशिश की जाये तो कहा जा सकता है कि उनका शिल्प वाल्ट ह्विट्मैन से मिलता-जुलता है तो उन के अन्तर्द्वन्द्व मे प्रारम्भिक फ़ैज़ अहमद 'फैज़' का-सा अन्तर्द्वन्द दिखायी देता है। हम यहाँ सिर्फ काव्यात्मक अन्तर्द्वन्द्व की बात कर रहे है, 'फैज़' के राजनीतिक दर्शन और सक्रिय राजनीति की बात अलग है।

सर्वेश्वर ने कहानियां भी लिखी हैं, लघु-उपन्यास भी और बाल-साहित्य के अतिरिक्त 'बकरी' और 'अब गरीबी हटाओ' जैसे राजनीतिक नाटक भी। इन सभी विधाओं में उन की देन विशिष्ट है। लेकिन उन की प्रसिद्धि मूलतः एक कवि के रूप में रही है, और इस आलेख में भी उन की कविताओं का ही चर्चा अधिक है तो इसका कारण यही रहा है कि उन की दृष्टि मूलतः कवि-दृष्टि रही है। 'काठ की घंटियाँ' के प्रकाशन के समय ही सम्पादक 'अज्ञेय' ने इस बात को पहचानते हुए लिखा था, "उन्हें पहले कवि मानने में मैं उन की रचना का मूल्याकन नही बल्कि उन की संवेदना के प्रकार का निरुपण करना चाहता हूँ। अनुभव का स्तर—भोक्ता संवेदना और भोग्य परिवृत्त के आपसी सम्बन्ध का स्तर—कविता का है; कवि को जिस सत्य से प्रयोजन है, वह उसी का क्षेत्र है। मैं कहना चाहता हूँ कि अपनी सामाजिक दृष्टि और अपनी रचनाओं में स्पन्दनशील गहरी सामाजिक चेतना के बावजूद सर्वेश्वर को सर्वप्रथम अनुभव से प्रयोजन है: सन्दर्भ से केवल आनुषंगिक रूप से।"

सर्वेश्वर अपनी काव्य-यात्रा के जिस मोड़ पर थे, उस मे आगे के विकास की बहुत-सी सम्भावनाएँ थी। उन के विचारो और मान्यताओं में जो परिवर्तन दीख रहा था—बल्कि कहना चाहिए कि अपनी मान्यताओं के प्रति जो आलोचनात्मक प्रवृत्ति उन में विकसित होती दीख रही थी, उस का रचनात्मक प्रतिफलन निश्चय ही कई बड़ी सम्भावनाओं की ओर इंगित करता था। यह हमारा दुर्भाग्य है कि इन सम्भावनाओं के मूर्त-रूप हम को नही मिलेंगे। रचनाकर्म के प्रति हमारी आस्था बनी रहे, स्मृति-शेष रचनाकार के प्रति वास्तविक नमन यही है।

वैराग्य का लालित्य

आधुनिक हिन्दी साहित्य मे जिन लेखको के कृतित्व को आलोचको की उदासीनता का सर्वाधिक शिकार होना पडा है उन मे वीरेन्द्रकुमार जैन का नाम सर्वप्रथम स्मरणीय है। इस उपेक्षा का प्रथम कारण तो सम्भवतः यही रहा है कि वीरेन्द्रकुमार विज्ञानसम्मत यथार्थ की पूरी समझ रखते हुए भी धर्म और अध्यात्म के रहस्यलोक के यात्री रहे हैं और कथित आधुनिकता अधिकाँशतः इस क्षेत्र को बहिष्कृत मानती है। दूसरा कारण रहा है लेखक की भावुकता जिस के कारण अभिव्यक्ति मे विस्तार और स्पष्ट कथन अधिक है जबकि आधुनिक आलोचक साकेतिक संक्षिप्तता और 'रेस्ट्रेन' की ओर ज्यादा आकर्षित होते हैं। लेकिन साहित्य सृजन के क्षेत्र मे निश्चित नियमो के अनुसार रचना नही की जाती बल्कि रचनात्मक आवश्यकता के अनुरूप ही विभिन्न शिल्पविधियो का प्रयोग किया जा सकता है। इसलिए आधुनिक लेखन के कुछ गुण पूर्वनिर्धारित कर उन के आधार पर कृति को परखने के आग्रह की अपनी सीमाएँ होगी और उस के आधार पर प्रत्येक मौलिक कृति का मूल्याकन सम्भव नही होगा। वीरेन्द्र कुमार जैन के कृतित्व की सही समझ भी इसीलिए सम्भव नही हो सकी कि वह आधुनिकता की किन्ही पूर्वनिर्धारित शर्तों को स्वीकार नही करता—बल्कि यह कहना सही होगा कि ये शर्तें उनके कृतित्व की अनुलघनीय सीमा रेखा नही बनी रह सकी। उन के कृतित्व का मूल्याकन उस की अपनी शर्तों पर ही किया जा सकता है। हिन्दी लेखन मे पिछले दिनो आलोचना और विचारधारा रचनाकर्म पर प्रभावी होने की ओर बढ़ती रही हैं, ऐसे माहौल मे वीरेन्द्रकुमार जैन के 'अनुत्तर योगी' जैसे उपन्यास की रचना सर्जन कर्म की गरिमा के प्रति पुनः आश्वस्त करती है।

'अनुत्तर योगी' भगवान महावीर के जीवन पर आधारित एक बृहत्ताकार उपन्यास है जिस का चौथा भाग अभी कुछ समय पूर्व ही प्रकाशित हुआ है। उपन्यास की मूल योजना चार भागों की थी, लेकिन अब वह पाँच भागो मे

सम्पूर्ण होगा। भूमिका के पृष्ठो को छोड़ दिया जाय तो चारों भागों मे कुल मिलाकर चौदह सौ पृष्ठ हैं और यदि अनुमानतः पाँचवाँ भाग भी अनुपात मे इतना ही हुआ तो पूरा उपन्यास करीब साढे सत्रह सौ पृष्ठों मे समाप्त होगा—भूमिका के सौ-सवासौ पृष्ठो के अतिरिक्त। सृजन में पृष्ठ संख्या का कोई महत्त्व नही होता पर इस का उल्लेख सिर्फ यह बताने के लिए किया गया है कि लेखक ने किस स्तर पर इस काम को हाथ मे लिया है।

राम, कृष्ण, बुद्ध या ईसा जैसे महान व्यक्तित्वो की जीवन गाथा को आधार बना कर महान साहित्यिक कृतियो की रचना की गयी है। ऐसे मे यह सचमुच आश्चर्यजनक है कि भगवान महावीर जैसे व्यक्तित्व पर आधारित किसी बड़ी कृति की रचना अभी तक नही की गयी थी—यद्यपि ठीक यही बात मूर्तिकला के क्षेत्र मे नही कही जा सकती। इसका क्या कारण रहा होगा? मुझे लगता है कि पारम्परिक रूप से भगवान महावीर के व्यक्तित्व के वीतराग और कठोर तपस्वी व्यक्तित्व पर इतना अधिक बल दिया जाता रहा है कि सम्पूर्ण चराचर के प्रति उन के अन्तर मे व्याप्त 'अनुकम्पा' की सहज प्रवहमान धारा की ओर ध्यान ही नही आकर्षित हो सका। उन की तस्वीर एक शुष्क और कठोर अनुशासन मे रत तपस्वी के रूप मे ही चित्रित हुई और यही कारण रहा कि रसप्रिय साहित्यकारों का ध्यान इस व्यक्तित्व के ललित पक्ष की ओर ठीक तरह से नही जा सका और इसी कारण यह व्यक्तित्व किसी साहित्यिक कृतित्व की प्रेरणा नही बन सका।

ऐसी दशा मे वीरेन्द्रकुमार जैन के सम्मुख चुनौती और भी बड़ी रही क्योकि उन्हे जहाँ एक ओर भगवान महावीर को एक सम्प्रदाय से बाहर निकाल कर उन्हें सार्वजनीन बनाना था, वही दूसरी ओर उन के व्यक्तित्व को लेकर बनी रूढि को भी तोडना था, और साथ ही इस से भी बड़ी चुनौती थी आधुनिक काल मे, आधुनिक समस्याओ के सन्दर्भ मे उन की मूल दृष्टि की प्रासंगिकता को सिद्ध करना। यह सब कार्य निरे बौद्धिक प्रयास से नही हो सकता था। इस के लिए एक ऐसे संवेदनशील मन की आवश्यकता थी जो विचार और अनुभव दोनो के प्रति एक-सा सवेदनशील हो और वैज्ञानिकता को ठीक तरह से पहचानता हुआ उस का अतिक्रमण करने का साहस भी रखता हो। कहना न होगा कि वीरेन्द्रकुमार जैन 'अनुत्तर योगी' मे एक ऐसे ही लेखक सिद्ध हुए हैं।

इस उपन्यास की सबसे बड़ी खूबी यह है कि इस मे केन्द्रीय चरित्र महावीर को मानवीय और अतिमानवीय स्तरो पर एक साथ चित्रित किया गया है। इसी कारण महावीर अपने कर्मबन्ध के कारण जिन यन्त्रणाओं मे से गुज़रते हैं वे आधुनिक मन को अपनी यन्त्रणा लगती हैं और उन से गुजर कर 'कैवल्य' की अवस्था में उन का पहुँचना छटपटाती आधुनिक मनसा मे आशा का सचार करता है। महावीर का व्यक्तित्व ऐतिहासिक है इसलिए मानवीय है और लोकमानस मे ईश्वरत्व के समकक्ष दर्जा प्राप्त कर चुका है इसलिए वह पौराणिक या शाश्वत भी है। इन दोनो स्तरो को एक साथ निभा पाना किसी भी सामान्य प्रतिभा के कलाकार के बूते की बात नही थी। लेकिन वीरेन्द्रकुमार जैन ने इस चुनौती को बडी सहजता से निभाया है। यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी यदि इस सन्दर्भ मे रामकथा पर आधारित नरेन्द्र कोहली की कुछ ही समय पूर्व प्रकाशित उपन्यास शृंखला को ध्यान में रखा जाय। नरेन्द्र कोहली राम के व्यक्तित्व और रामकथा को एक यथार्थवादी दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं जिस का परिणाम यह हुआ है कि उन के राम लोकमानस के राम की तुलना मे ओछे पडते दीखते हैं और इसी कारण कोहली की रामकथा सृजन की बजाय एक व्याख्या अधिक लगने लगती है। इस दृष्टि से 'अनुत्तर योगी' के साथ उस का कोई मुकाबला ही नही है। 'अनुत्तर योगी' मे रचित महावीर का व्यक्तित्व लोकमानस मे रूपायित महावीर के व्यक्तित्व को और अधिक विस्तार देता है तथा उस के कई और आयामो को उद्घाटित करता है। इसीलिए यह उपन्यास महावीर के व्यक्तित्व की पुनर्व्याख्या नही बल्कि पुनर्सर्जन लगता है। कोहली के राम और उन के सहयोगी चरित्र इसी लिए बौद्धिक चेष्टा के परिणाम अधिक लगते हैं, वे कलाकर की अनुभूति मे से उपजे चरित्र नही लगते जैसा कि वीरेन्द्र कुमार के महावीर के साथ होता है। इसलिए 'अनुत्तर योगी' पढकर यदि किसी की याद आती भी है तो कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी के महागाथात्मक उपन्यासो की जिन मे कृष्ण और परशुराम जैसे चरित्रो के मानवीय और अतिमानवीय स्तरो को एक साथ उद्घाटित किया गया है।

इन दोनो स्तरों को एक साथ उद्घाटित करने की रचनात्मक अनिवार्यता की ही वजह से वीरेन्द्रकुमार जैन के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे उपन्यास के बँधे-बँधाए ढाँचे को तोड़ें। यह काम भी उन्होंने बड़ी सहजता से किया है। यही कारण है कि यह उपन्यास कहीं यथार्थवादी हो जाता है और कहीं फैंटेसी,

कहाँ प्रथम पुरुष मे है और कहाँ तृतीय पुरुष मे, इस का पढ़ते समय अलग से भान ही नही होता। उपन्यास के कई अंश एक ओर अपने आप में सम्पूर्ण रचना लगते हैं तो दूसरी ओर परस्पर मिलकर वे 'अनुत्तर योगी' हो जाते हैं। भावनाप्रधानता और विस्तार वीरेन्द्रकुमार जैन की कमजोरियाँ माने जाते रहे हैं लेकिन इस उपन्यास मे ये दोनों ही बातें उन के लेखक की मुख्य शक्ति के रूप में प्रकट होती हैं क्योकि इनके बिना महावीर के निर्बाध व्यक्तित्व को सहज और प्रवहमान अभिव्यक्ति नही दी जा सकती थी।

लेखक की एक खूबी यह रही है कि उस ने केवल महावीर के चरित्र मे ही नहीं वरन् अन्य सभी पात्रों के अन्तरतम तक पैठने मे पूरी सफलता प्राप्त की है। यही कारण है कि महावीर के विरोधियो बल्कि उन्हे यन्त्रणा देने वालो तक के प्रति पाठक के मन मे क्रोध उपजना तो दूर उन के प्रति एक अनुकम्पा का भाव जागृत होता है। यह गुण सभी बड़े लेखको की पहचान माना जाता है जो 'अनुत्तर योगी' के लेखक मे भी पूर्णरूपेण विद्यमान है। स्वयं महावीर का चरित्र इतना बहुआयामी हो गया है कि एक ओर जहाँ एक पल के लिए भी उन की विशिष्टता ओझल नही होती वही दूसरी ओर कई दफ़ा यह सन्देह होने लगता है कि कही हम जयदेव के कृष्ण को तो नही पढ़ रहे—लेकिन तभी लगता है कि नही, यह महावीर ही है, वह महावीर जिस मे कई युग-पुरुष एक साथ समाहित हैं क्योकि वह शाश्वत प्रतीक पुरुष है।

यह उपन्यास केवल महावीर की जीवनगाथा मात्र ही नही है। उन के चरित्र के माध्यम से इतिहास को एक शाश्वत उपस्थिति की तरह प्रस्तुत करने मे लेखक को पूरी सफलता मिली है। शायद इसी को रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'इतिहास रस' कहा है। छठी शताब्दी ई. पू. का समय भारतीय इतिहास मे सर्वव्यापी उथलपुथल का समय रहा है। यह वह समय था जब भारतीय समाज एक युग से दूसरे युग में प्रवेश कर रहा था और इसलिए इस काल में वे सारे प्रश्न उठे थे जो युगान्तरकारी होते हैं। 'अनुत्तर योगी' के लेखक को भी इसीलिए इसी तरह के प्रश्नो से साक्षात्कार करना पड़ा है जो अपने निरूपण मे इतिहासबद्ध होते हुए भी अपनी आत्मा मे शाश्वत होते है। राज्य, अर्थव्यवस्था, सामाजिक उत्तरदायित्व, युद्ध और शान्ति, मानवीय शोषण, दमन और स्वाधीनता, भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टियों का संघर्ष आदि सभी सवालों पर लेखक ने खुलकर अपने विचार रखे हैं। कुछ लोगो को ये विचार अंश उपन्यास के मूल ढांचे से अलग लग सकते हैं, लेकिन यह

निरन्तर याद रखने की जरूरत है कि 'अनुत्तर योगी' महाकाव्यो की तरह सार्वभौमिक चेतना का महाकाव्यात्मक उपन्यास है, और इसीलिए जिस तरह विदुर नीति या भीष्म का राजधर्म महाभारत के अनिवार्य अंश जान पड़ते हैं, उसी तरह 'अनुत्तर योगी' के ये विचार अंश उसकी रचनात्मक अनिवार्यता हैं। वे लेखक के विचारो की तरह अलग से आरोपित या पूर्व निर्धारित नही लगते बल्कि तात्कालिक दशाओ के प्रति महावीर के अपने व्यक्तित्व, उन की अपनी दृष्टि का प्रत्युत्तर लगते हैं।

'अनुत्तर योगी' के महावीर इतिहास नही है, वे शाश्वत हैं इसलिए समकालीन भी है। 'अनुत्तर योगी' के लेखक से सहमति-असहमति हो सकती है, परन्तु उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। भारतीय उपन्यास को उस के इस मौलिक अवदान की अनदेखी करना निश्चय ही अन्याय होगा।

मुक्ति के लिए छटपटाहट की कहानी

निर्मल वर्मा की कहानियों के बारे में उन के प्रशंसकों और आलोचकों ने पूर्व-ग्रहों का एक ऐसा धुंधलका पैदा कर दिया है जिस में उन की हर नयी कृति को अलग से पहचान पाना बहुत मुश्किल हो गया है। स्मृतियाँ, अवसाद, अकेलापन आदि ऐसी मन:स्थितियाँ हैं जो दोनों ही तरह के आलोचकों द्वारा उन की कहानियों के मूल तत्त्व की तरह स्वीकार कर ली गयी हैं और अब केवल यही बहस बचती है कि इन सब की कोई प्रासंगिकता है या नहीं—और इस प्रकार विचार का दायरा कहानी से हट कर आसानी से समाजशास्त्र पर केन्द्रित हो जाता है। एक गहरे अर्थ में तो हर कलाकृति एक स्मृति होती है लेकिन जब निर्मल वर्मा जैसे कलाकारों के सन्दर्भ में स्मृतियों की बात होती है तो उस का तात्पर्य कुछ मधुर घटनाओं या रोमांटिक अनुभवों की याद से होता है जो अब अतीत हो चुका है, जिस के एक अवसाद और अकेलेपन का वातावरण कहानियों पर तारी दिखायी देता है। मुझे लगता रहा है कि प्रारम्भ से ही निर्मल वर्मा की कहानियों को गलत समझा जाता रहा है और उन के नये कहानी-संग्रह 'कव्वे और काला पानी' को पढ़ते हुए यह धारणा और पुष्ट होती है।

निर्मल वर्मा की कहानियाँ न तो अकेलेपन का प्रभा-मंडन करती हैं और न उस में से एक कलात्मक सुख—एस्थेटिक प्लेजर—प्राप्त करती हैं—बल्कि सच तो यह है कि वे अकेलेपन से मुक्ति के लिए छटपटाहट की कहानियाँ हैं। स्मृतियाँ इन कहानियों में हैं—पर किसी कृत्रिम अवसाद की सृष्टि करने के लिए नहीं बल्कि मुक्ति की प्रेरणा की तरह और इसीलिए उन का होना मुक्ति के लिए छटपटाहट को और अधिक गहराई से रेखांकित करता है। ये कहानियाँ किसी उदासी में डुबा कर नहीं छोड़ जातीं बल्कि आत्मा के किसी घाव को जैसे पुन: कुरेद जाती हैं और इसी कारण इन कहानियों को पढ़ चुकने पर हम एक गहरी बेचैनी और तिलमिलाहट देर तक महसूस करते रहते हैं। यह बेचैनी एक किस्म की आध्यात्मिक बेचैनी है—रूढ़ अर्थों में आध्यात्मिक

नही बल्कि उन अर्थो मे जहाँ हर मानवीय रिश्ता एक अस्तित्वगत रिश्ता है, इसलिए आध्यात्मिक रिश्ता है और इसलिए अपने अकेलेपन का अहसास और उस से मुक्ति की सारी छटपटाहट भी एक आध्यात्मिक छटपटाहट है। 'साहित्य मे प्रासगिकता का प्रश्न' निबन्ध मे स्वयं निर्मल वर्मा ने ही लिखा था : "मनुष्य का यह लावारिस अलगाव और अधूरापन कोई आधुनिक, पश्चिम-बोध की देन नही है—वह मनुष्य के मनुष्यत्व के बीच एक कीडे की तरह विद्यमान है, धरती पर उसके महज 'होने' के बोध मे निहित है। उस की समूची मिथक संरचना, धर्म-विधान, ईश्वर-कल्पना और हमारे समय मे सम्पूर्ण क्रान्ति का स्वप्न इसी अभिशप्त अनाथावस्था से छुटकारा पाने का गौरवपूर्ण, ट्रैजिक और बीहड़ प्रयास है। कला यदि इन से अलग है तो इस लिए नही कि वह इस अधूरेपन के पाप से मुक्ति पाने का स्वप्न नही देखती—यह स्वप्न और आकाक्षा ही तो उस की सतत् प्रासगिकता के केन्द्र मे है—फर्क केवल इतना है (और यह बुनियादी अन्तर है) कि यह स्वप्न कही बाहर और परे न होकर स्वय उस की सृष्टि, उस की फार्म, उस की सरचना मे सन्निहित है।"

निर्मल वर्मा की इन कहानियो की अन्त.वस्तु यही है कि वे बार-बार मनुष्य को उस के अकेलेपन के घेरे से बाहर निकालती है, वह बार-बार उस मे घुस जाता है। इसलिए यह कहना ज्यादा सही होगा कि जिस तरह इन कहानियो का अकेलापन आरोपित नही बल्कि अस्तित्वगत है उसी प्रकार उस से मुक्ति की छटपटाहट भी किसी कृत्रिम आशावाद की ओर नही ले जाती बल्कि इस छटपटाहट मे ही मानवीय अस्तित्व की सार्थकता को प्रमाणित और अर्जित करती है। प्रस्तुत संग्रह की 'कव्वे और कालापानी' शीर्षक वाली कहानी ही इस बात को सर्वाधिक गहराई से प्रमाणित करती है। यह कहानी न केवल इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी कही जा सकती है बल्कि स्वय निर्मल वर्मा की और आधुनिक हिन्दी की भी कुछ चुनिन्दा कहानियो मे गिनी जा सकती हैं। जो लोग निर्मल वर्मा की पीड़ा को विदेशी मन की पीडा कहते हैं उन्हे निरुत्तर करने के लिए यह एक कहानी ही पर्याप्त है। मैं इस कहानी को निर्मल के कुम्भ मेले के अद्वितीय रिपोर्ताज के साथ रखकर पढना चाहता हूँ और तब देख सकता हूँ कि यह कहानी उन लाखो भारतीय लोगो के अकेलेपन के त्रासद अहसास और उस से मुक्ति के लिए छटपटाहट की कहानी है जिन मे से "हर व्यक्ति का अपना अतीत और इतिहास है—न जाने वे यहाँ कौन-सी पीडा

छोड़ने आये हैं, किस पाप और अभिशाप से मुक्ति पाने की छटपटाहट उन के भीतर छिपी है—यह हम में से कोई नही जान पायेगा..' मुझे लगता है कि 'कव्वे और काला पानी' के 'बाबा' कुम्भ के रिपोर्ताज के श्रीनिवास का भविष्य है और उन से मिलने छोटे और उपेक्षित पहाड़ी कस्बे में आया उन का लेखक भाई और दूसरा साधू तथा मास्टर साहब जैसे लोग उन हजारो तीर्थ-यात्रियो की तरह हैं जो अपने में अकेले तो हैं और उसे तोड़ना भी चाहते है पर जो 'नए सिरे से जिन्दगी शुरू करने का साहस नही करते'—यद्यपि यह साहस भी एक तरह के अकेलेपन का अहसास करवाता है। लेकिन साहस का अकेलापन अपने को काट कर दूसरों से जुडता है और उस के अभाव में हम साथ होते हुए भी अकेले हो जाते हैं। कहानी इस बात को बहुत गहरे संरचनात्मक स्तरो पर सम्प्रेषित करती है। बाबा का अकेलापन एक ऐसी सम्पूर्णता की ओर उन्मुख जान पड़ता है जिस मे दूसरो के लिए और इसलिए अपने छोटे भाई के लिए भी स्नेह और स्थान है जबकि छोटा भाई वहाँ से जल्दी भाग जाना चाहता है क्योंकि वह अपने भरे-पूरे जीवन के बीच अपने को अचानक अकेला महसूस करने से डर गया है: "यह वही दुनिया थी जिसकी सुरक्षित चहारदीवारी के बीच मैं ने अपने चालीस वर्ष गुजारे थे—किन्तु बाहर धुन्ध मे ठिठुरते हुए वह दुनिया कितनी बेगानी जान पड़ती थी: सहसा एक रिरियाते-से डर ने मुझे पकड़ लिया—अगर कोई मुझे अचानक इस सुन्दर और सुरक्षित दुनिया से बाहर फेंक दे तो मेरा क्या हाल होगा... मैं उस टिड्डे की तरह अन्धेरे मे चक्कर लगाऊँगा जिसे एक अँगुली से पकड कर ड्राइगरूम की खिडकी से बाहर फेंक दिया जाता है... और जो कभी दोबारा भीतर आने का रास्ता नही ढूँढ पाता; किन्तु अगले क्षण ही मुझे अपने डर पर हँसी आने लगी—मैं ने अपने कोट के भीतर हाथ डाला, वहाँ मेरे बैंक की पास बुक थी; गले मे लिपटे मफलर को छुआ, जो पिछली वर्षगाँठ पर मेरी पत्नी ने मुझे भेंट की थी, मेरे चमड़े के वॅलेट मे मेरे दोनो बच्चो की तसवीरें थी, दिल्ली मे मकान था, किताबें थीं, जिन पर मेरा नाम लिखा था—सब ठोस, पक्की चीजें, जिनसे मेरा इस धरती पर होना साबित होता था; मैं वही था, जो चालीस साल पहले इस दुनिया में आया था, एक पीस मे जड़ा हुआ जीव, एक निरन्तर प्राणी—जिसके बीच कोई काट-फाँक नही थी, यह असम्भव लगा कि यह जीव मुझे एक दिन अनाथ पतंगे की तरह अन्धेरे मे छोड़कर गायब हो जाएगा...मैं जल्दी-जल्दी उन की कुटिया की तरफ बढने लगा; एक अजीब खुशी ने मुझे पकड लिया, कुछ घंटो बाद शाम की बस से मैं अपनी जानी-

पहचानी दुनिया मे लौट जाऊँगा .डर का कोई कारण नहीं था।"(पृ.149-50)

निर्मल वर्मा की यह भाषा सिर्फ नैरेशन की—वर्णन की भाषा नही है। यह प्रस्तुति की, नाटक की भाषा है और इसीलिए 'डर का कोई कारण नही था' वाक्य आत्मविश्वास की सारी झूठी कोशिश के पीछे कांपते मन को हमारे सामने नंगा कर देता है—लेकिन नंगा ही करता है, स्पष्ट नही करता क्योंकि नगापन एक अहसास है जबकि स्पष्टता समझ। निर्मल की कहानियाँ समझाने का दावा नही करती, वे सिर्फ़ एक अहसास को हम तक पहुँचाती हैं, उस की व्याख्या नही करती। और शायद यही कारण है कि सौभाग्य से निर्मल की कहानियो पर मनोविज्ञान के निष्कर्षों के प्रभावों की घोषणाएँ नही की गयी। कभी-कभी आश्चर्य होता है कि निर्मल 'मनोवैज्ञानिक कथाकार' कहलाये जाने के खतरे से बचे कैसे रह सके जबकि मानव-मन की गहरी गुत्थियो और जटिलताओं का जितना अहसास उन की कहानियों मे है उतना उन के सम-कालीन रचनाकारो में कही नही दीखता। लेकिन यह शायद इसीलिए हो सका कि उन के यहाँ अहसास हैं, व्याख्या नही। जटिल भावस्थितियो का यह समग्र अहसास उन की भाषा को रूपकात्मक स्तर तक उठा देता है और वह उस सपाटता से बच जाती है जिस के कारण हमारी अधिकांश कहानियाँ एक सरलीकरण का शिकार हो रही हैं। कुछ उदाहरण इसी सग्रह से ले सकते हैं "वे कुछ सोचने लगे; दोपहर के मलिन आलोक मे उन का सिर चौकी पर रुक आया था, सिर्फ बालो की सफेद लटें दिखाई देती थी—कुछ देर पहले जिस चेहरे को हँसते हुए देखा था वह अब एक अँधेरी बावड़ी पर ठिठकी छाया-सा दिखाई देता था।" (पृष्ठ 153) "वह कुछ और कहना चाहता था, प्रेम के बारे मे, वफादारी के बारे मे, विश्वास और धोखे के बारे में; कोई बड़ा सत्य, जो बहुत से झूठो से मिलकर बनता है, व्हिस्की धुन्ध में बिजली की तरह कौंधता है और दूसरे क्षण हमेशा के लिए अँधेरे मे लोप हो जाता है।", (पृष्ठ 180) "नहींजी, लोग दुख नही बाँटते, सिर्फ फैसला करते हैं—कौन दोषी है और कौन निर्दोष. मुश्किल यह है, जो एक व्यक्ति आपकी दुखती रग को सही-सही पहचान सकता है, उसी से हम अलग हो जाते है . ।" (पृष्ठ 16) "वे हँसने लगी—एक उदास-सी हँसी जो एक खाली जगह से उठकर दूसरी खाली जगह पर खत्म हो जाती है— और बीच की जगह को भी खाली छोड़ जाती है।" (पृष्ठ 32)

निर्मल वर्मा की भाषा का यह अन्दाज उन की कहानियो की संरचना का मुख्य

आधार है क्योंकि यह भाषा न तो यथार्थ को परिभाषित या व्याख्यायित करती है और न उसे खंडो मे बाँटकर अलग-अलग घटनाओं के माध्यम से दिखाती है। यह 'सब कुछ का एक साथ' अहसास कराती है। वर्जीनिया वूल्फ के 'टू दी लाइट हाउस' का पात्र आखिर में महसूस करता है—'नथिंग वाज सिम्पली वन थिंग।' कोई भी चीज़ कोई एक चीज़ नही होती, कोई स्मृति कोई एक स्मृति नही होती, कोई मनःस्थिति भी कोई एक मनःस्थिति नहीं होती। लेखक की असली चुनौती यही है और इस का सामना करने के लिए लेखक के पास भाषा के अलावा अन्य कोई साधन नही हैं। लेकिन मनुष्य के मन के अँधेरे को और उस के प्रकाश को उस की विभिन्न छायाओं के साथ एक साथ देख पाना उसी भाषा से सम्भव होता है जो 'मनुष्य की गहनतम अन्तर्चेतना के मूलभूत ढाँचे' से जन्म लेती है। यह भाषा रूपकों की भाषा है क्योंकि उसी मे 'स्मृति के बिम्ब' सुरक्षित और जीवन्त रहते हैं चाहे वह स्मृति निजी हो या जातीय। निर्मल वर्मा की भाषा का यह अन्दाज़ उन की पूरी कहानी को ही एक जटिल बिम्ब की सरचना दे देता है और इसी कारण कभी उन्हें संगीत की तरह अनुभव किया गया है तो कभी चित्र या कविता की तरह। सभी कलाएँ अपनी चरम परिणति मे एक जटिल बिम्ब हो जाती हैं जो सिर्फ एक अनुभूति होता है—एक समग्र और जीवन्त अनुभूति अपने अन्दर और बाहर के ससार से और उस के शून्य से घिरी हुई। यही कारण कि निर्मल वर्मा की कहानियो में चरित्र और घटनाओं का कोई आत्यन्तिक अर्थ नही है। वे एक जटिल किन्तु पारदर्शी बिम्ब के अगमात्र होते है, लेकिन जरूरी अग। किन्तु उन की अपनी अर्थवत्ता का स्रोत वह जटिल बिम्ब ही है जिस के वे हिस्से हैं। उस से अलग उनकी कोई स्मृति नही रहती। इसलिए यह कहना सही होगा कि निर्मल वर्मा की कहानिया हिन्दी कहानी मे प्रेमचन्द-प्रसाद और जैनेन्द्र-अज्ञेय से बिल्कुल अलग एक नयी परम्परा की शुरुआत करती है। 'नयी कहानी' को आन्दोलन की तरह लेने वाले अधिकांश कहानीकारों को अपने से पहले के कहानीकारों का विकास या कभी-कभी अवरोहण भी माना जा सकता है लेकिन निर्मल वर्मा की कहानियाँ काफी हद तक इस की अपवाद हैं।

निर्मल वर्मा पर यह आरोप आसानी से लगाया जा सकता है और जो कुछ हद तक सही भी है—कि वह अपने बनाए घेरे से बाहर नही निकल पा रहे हैं। उन की कहानियों की भाषा, टोन और संरचना मे कोई बुनियादी परिवर्तन या विकास सम्भव नहीं हो रहा है—यद्यपि इस संग्रह की 'कव्वे और काला पानी' कुछ अलग जान पड़ती है। यह कहा जा सकता है कि किसी

लेखक के लिए आगे बढना जरूरी नही है, वह अपने पहले के हल्के रंगों को और गहरा करता रह सकता है—कविता में काफी हद तक शमशेर भी तो यह करते हैं—लेकिन निर्मल अपनी ही आलोचना से यह आशा हम मे जगाते हैं और उन की सर्जनात्मक प्रतिभा से ही हम अभी तक आश्वस्त हैं, अतः उन से यह अपेक्षा अस्वाभाविक या अनुचित नही है। हम उन से किसी तरह के सरलीकृत विकास की माँग नही करते और इस बात पर भी उन के साथ सहमत हो सकते है कि 'यह नही कि कला से हमे प्रकाश ही प्राप्त हो, किन्तु हम अपने अन्धेरे से परिचित हो सकें—यह वही कलाकृति कर सकती है जो स्वयं प्रकाश और अँधेरे के बीच मडराती छलनाओ से परिचित हो।" और निश्चय ही उनकी कहानियाँ इन छलनाओ मे हमें परिचित करवाने की सार्थक कोशिश करती हैं—लेकिन किसी भी कलाकार के लिए यह स्मरण रखना भी सार्थक है कि सभी छलनाओ को किसी एक ही वृत्त मे समझ लेना भी कभी-कभी छलनाओ को जानने मे एक बाधा हो सकता है।

सीपी में सागर

हिन्दी के लेखको मे ऐसा बहुत कम देखा गया है कि चालीस-पचास वर्षों तक निरन्तर लिखते रहने के बाद भी उन की नयी कृतियों मे भी नयी ज़मीन तोड़ते रहने की प्रवृत्ति बनी रहे। अक्सर होता यही है कि एक उम्र प्राप्त कर चुकने के बाद अधिकांश लेखको को हम उन की ऐतिहासिक भूमिका के कारण सम्मान तो देते रहते हैं लेकिन उन की नयी रचनाओ मे हमारी रुचि कम हो जाती है। वे हमारे लिए श्रद्धा और सम्मान के पात्र होने के बावजूद सम-कालीन साहित्यिक परिदृश्य के केन्द्रीय व्यक्तित्व नही रहते और उन की नयी रचनाएँ ताजगी और विचारोत्तेजना नही देती। अज्ञेय की गणना उन कुछ विरले लेखको मे की जानी चाहिए जो अपने प्रारम्भिक लेखन-काल से लेकर अद्यतन अनवरत नयी जमीन तोडते रहे हैं। हिन्दी कविता, कहानी, उपन्यास और आलोचना तो उन के अविस्मरणीय ऐतिहासिक अवदान को निश्चय ही कभी नही भुला सकते लेकिन पिछले कुछ अर्से से सांस्कृतिक चिन्तन के क्षेत्र मे भी उन की प्रतिभा की उपलब्धि अप्रतिम रही है। पिछले दशक मे प्रकाशित 'संवत्सर' भारतीय भाषाओं मे काल-प्रतीति और साहित्य के सम्बन्धो पर किया गया प्रथम विश्लेषण है और उस ने रचनाकारो के साथ-साथ दार्शनिकों, इतिहासविदो और समाजशास्त्रियों आदि का भी ध्यान आकर्षित किया है—उस से पहले 'आलवाल' के निबन्धो में प्रतिपादित श्रव्य और पठ्य कविता की अवधारणाएँ और श्रव्य से पठ्य होती चली जा रही कविता के स्वरुप परि-वर्तन पर प्रकट किये गये अज्ञेय के विचार अब तक पर्याप्त स्वीकृति पा चुके हैं। आश्चर्यजनक है कि ये सब नये विचार अज्ञेय ने तब प्रकट किये जब चालीस-पचास के दशकों में प्रकाशित उन के नये विचार और रचना-प्रवृत्तियाँ न केवल व्यापक स्वीकृति पा चुकी थीं बल्कि काफ़ी हद तक तत्कालीन सम्पूर्ण-साहित्यिक परिदृश्य मे हो रहे परिवर्तन की आधार-भूमि के रूप मे स्थापित हो चुकी थीं।

ऐसी दशा में अज्ञेय के नये निबन्ध-संग्रह 'कहाँ है द्वारका' को पढ़ना फिर एक सुखद अनुभव से गुजरना है क्योंकि इस संग्रह मे अज्ञेय फिर एक नयी चिन्तन

शैली को अपनाते हुए और उसके माध्यम से अपनी परिचित भाव-भूमि को एक नयी ही इयत्ता देते हुए दिखायी पड़ते है। दरअस्ल, जिस शैली में ये निबन्ध लिखे गये हैं उस की कुछ झलक 'संवत्सर' के कुछ निबन्धों मे भी दिखायी दी थी लेकिन तब शैली का यह नयापन उतना ध्यान आकर्षित नही कर सका था क्योकि वे निबन्ध एक अलग तरह की विचार-प्रधान पुस्तक का एक हिस्सा भर थे। 'संवत्सर' के प्रारम्भिक भाग 'क्रमातीत भूमिकाएँ' शीर्षक के अन्तर्गत संकलित 'दिग्विहीन', 'वर्गवृत्त', 'संवत्सर', और 'काल-मृगया' निबन्ध कुछ-कुछ ललित निबन्ध की शैली मे लिखे जाने पर भी पूर्णतया ललित निबन्ध नही कहे जा सकते थे। 'कहाँ है द्वारका' के निबन्धो में यह नयी निबन्ध शैली अपने पूर्ण विकास पर है और इसलिए हर पाठक के सम्मुख अपने वर्गीकरण का प्रश्न उपस्थित करती है।

अज्ञेय स्वयं भी शायद अपने मन मे कही न कही यह अनुभव कर रहे होंगे कि इन निबन्धो को ठीक-ठीक ललित निबन्ध या व्यक्ति-व्यंजक निबन्ध–'पर्सनल ऐसे'–नही कहा जा सकता और सम्भवत. यही कारण रहा होगा कि वह इस पुस्तक की भूमिका मे यह मानते हुए भी कि 'जिस प्रकार की ये रचनाएँ हैं उसे ललित, व्यक्तिपरक, व्यक्तित्व व्यंजक आदि तो कहते ही हैं' और मराठी मे प्रचलित नाम 'रम्य रचना' का उल्लेख करते हुये भी इस तरह के निबन्धों को 'भावरंजनी' कहना ज्यादा उचित समझते हैं। उन्ही के शब्दो मे "अगर मैं इन छोटी-मोटी निष्प्रयोजन रचनाओं को भावरंजनियाँ कहता हूँ तो आशय यही है कि भाव तो वहाँ है पर वह रंजित रूप में प्रस्तुत किया गया है, और वह रंजन उन्हें झूठा या हल्का करने के लिए नही है बल्कि आप को आकृष्ट करने के लिए है—रंगत के प्रति भी और उस मूल्यवान धातु के प्रति भी जिसे रंजित किया गया गया है।" लेकिन अज्ञेय के अपने आग्रह के बावजूद 'भावरंजनी' कह देने से इन निबन्धो की सही तस्वीर नही बनती और साथ ही यह आपत्ति भी होगी कि भावो की रंजित प्रस्तुति मात्र में ही इन निबन्धों के महत्त्व को ठीक-ठीक नहीं आँका जा सकता। इन निबन्धो की विशेषता यह है—और शायद यही अज्ञेय की मौलिक सर्जनात्मक प्रतिभा भी अभिव्यक्त होती दीखती है—कि इन में न तो केवल ललित निबन्धो जैसी मुक्त उड़ानें और अतीत तथा लोक-संस्कृति के प्रति कोई रोमांटिक आग्रहशीलता दिखायी देती है और न ही शुष्क तर्कप्रधान चिन्तन। चिन्तन और अनुभूति दोनो एक ही बिन्दु पर आकर इस तरह एकमेक हो जाते हैं कि यह जानना मुश्किल हो जाता है कि कहाँ क्या है। ललित निबन्धों में तर्कप्रधान वैचारिकता और यथार्थता

का वैसा आग्रह नहीं रहता जो इन निबन्धों में बराबर दिखायी देता है तो दूसरी ओर विचार-प्रधान निबन्धों में ललित सम्प्रेषणीयता का अभाव रहता है। 'कहाँ है द्वारका' के ये निबन्ध इसीलिए एक नयी शैली के निबन्ध हैं। इनमें एक कवि-कलाकार का चिन्तक रूप उभरता है— बल्कि यह कहना शायद ज्यादा सही होगा कि चिन्तन की एक आधुनिक काव्यात्मक शैली का विकास इन निबन्धों मे होता दीखता है। ('आधुनिक' विशेषण की जरूरत इसलिए भी है कि अन्यथा इसे केवल भावोच्छवास समझ लिये जाने का खतरा भी बना रहता है।) और इस नयी चिन्तन-शैली की अभिव्यक्ति की जरूरत ने ही हिन्दी निबन्ध मे एक नयी शैली का रूपायन सम्भव किया है।

चिन्तन और अनुभूति के एक ही बिन्दु पर आकर खड़े हो जाने के कारण इन निबन्धो मे अज्ञेय की भाषा, उन के गद्य को भी एक नया सस्कार मिला है क्योकि इन निबन्धो की आवश्यकता एक ऐसी भाषा की रचना रही है जो वैचारिकता और अनुभूति को एक साथ अभिव्यक्त कर सके। 'सवत्सर' के तीन-चार निबन्धो मे भी भाषा का यह रूप कुछ विकसित हुआ था पर उस की अपेक्षा इस सग्रह मे उस की तरलता और बढी है। यदि किसी ऐसी वस्तु की कल्पना की जा सके जो एक साथ ही ठोस और तरल भी हो और लहरीली होते हुए पारदर्शी भी तो उस की लाक्षणिकता के माध्यम से ही अज्ञेय की इस नयी गद्य भाषा की व्यजना सम्भव हो सकती है। हम कह सकते हैं कि अज्ञेय की भाषा इन निबन्धों मे *'तेयार द शार्दे'* और *'कज़ान जाकिस'* जैसे लेखकों की अभिव्यक्ति-क्षमता के स्तर तक पहुँचती लगती है। इन दो लेखको का उल्लेख इसलिए भी आवश्यक है कि अज्ञेय की तरह ये भी आध्यात्मिक चिन्तन और अनुभूति को एकमेक करते हैं—लेकिन इन की भाव-दृष्टि पर ईसाई धार्मिकता का प्रभाव स्पष्ट है जबकि अज्ञेय की दृष्टि किसी भी तरह के धर्म-सम्प्रदाय से मुक्त धर्मेतर आध्यात्मिक दृष्टि है। लेकिन ये सभी लेखक-चिन्तक आधुनिक परिस्थितियो और सन्दर्भों से गुजरते हुए विज्ञान के आधुनिक निष्कर्षों की चुनौती का सामना करते हुए अपनी आध्यात्मिक दृष्टि का विकास सम्भव करते हैं।

थोड़े अवकाश मे सभी निबन्धों की अलग-अलग चर्चा निश्चय ही सम्भव नहीं है—यद्यपि निश्चय ही इस पुस्तक के अधिकाश अंश अलग और विस्तृत चर्चा के अधिकारी हैं— इसीलिए सभी निबन्धो को यदि किसी एक केन्द्रीय थीम के अन्तर्गत लाना हर हालत मे जरूरी ही समझा जाये तो कहा जा सकता है कि

वह थीम पूरी सृष्टि की एकतानता और पारस्परिक संलग्नता का आध्यात्मिक अनुभव है। यह अनुभव उस पुराने रहस्यवाद से अलग है जिस मे किसी भी वस्तु या व्यक्ति की अलग सत्ता एक भ्रम थी व एकत्व की एक अरूप अनुभूति ही सच थी। इन निबन्धो मे जो आध्यात्मिक दृष्टि उभरती है वह स्थूल यथार्थ की यथार्थता को सभी वस्तुओं और उन के अलग अस्तित्व के यथार्थ को समझते हुए भी उस तत्त्व की अनुभूति है जो सब में निरन्तर है और इस अनुभूति के साथ-साथ यदि आधुनिक समाज में इस दृष्टि का निषेध भी कही है तो उस के परिणामो की अमानवीयता और उस के प्रति व्यग्य का भाव भी इन रचनाओ में भास्वर है· "इस प्रकार विकास की दिशा के मिस हम पहले काल की दिशा निर्धारित कर लेते हैं और फिर उसे मूल्य-निर्धारण का आधार बना लेते हैं। है तो यह एक प्रकार का धोखा ही—पता नहीं, हम अपने को धोखा दे रहे होते हैं कि दूसरो को। जो हो, हम जीव-जन्तु को वनस्पतियो का परवर्ती, इसलिए उन से उच्चतर मानते हैं: मानव और भी पीछे आया इसलिए उच्चतर है ही। यो मानव अपनी पीठ ठोकना चाहे तो उस में क्या आपत्ति हो सकती है—निश्चय ही पेड तो बुरा मानने से रहे! पर अपने को श्रेष्ठतर प्राणी मानकर मनुष्य कितने-कितने अधिकार भी तो अपने ऊपर ओढ लेता है! जैसे पेड काटने का अधिकार या पशु को खा जाने का अधिकार। भले आदमी, तू बाद मे ही आया सही, तो जिन की बदौलत आया, जिनके बिना तेरा आविर्भाव होने वाला ही नही था, उन के प्रति क्या तेरा कोई उत्तरदायित्व नही है? तू उन मे से प्रकटा इसीलिए तू 'ऊंचा' है तो जो तुझ से 'नीचे' हैं वे तेरे रक्ष्य है कि भक्ष्य?" और इस के बाद वे सामाजिक ऊंच-नीच के विचार की भी इसी आधार पर आलोचना करते हैं। यह उद्धरण विकासवादी काल-चेतना के प्रति अज्ञेय के आलोचनात्मक रुख को तो प्रकट करता ही है साथ ही न केवल उस काल चेतना पर आधारित मूल्य-दृष्टि और व्यवस्था की कमजोरियो को उजागर करता है बल्कि जीवन मात्र के प्रति हमारे अनुराग और अस्तित्वगत एकता की अनुभूति को पुष्ट करता और आधुनिक परिस्थितिकी—इकोलॉजी—के निष्कर्षों को एक आध्यात्मिक भाव-भूमि प्रदान करता है।

'मरुथल की सीपियां' मे सागर और मरुथल के रूपकात्मक सादृश्य और इस प्रकार उन के माध्यम से समान अनुभूतियो को अभिव्यक्ति देते हुए और जापानी और भारतीय रूपक-पद्धतियों की विशिष्टताओ को रेखांकित करते हुए सीपी

मे सागर का स्वर सुनने के अनुभव को व्यक्त किया गया है—"यह न भूलें कि सीपी भी एक रूपक है और सागर भी: सीपी में सागर का स्वर सुनायी देता है। हाँ, और हमारा सारा जीवन ही तो एक सीपी है, सात्विक, सत्य, रंगो-भरी सीपी, जिस के द्वारा हम सागर का नही, सागरों के स्वर सुन पाते हैं—जो सागर हम में मिलकर एक हो जाते हैं। उन का हम मे मिलना, हमारा उस मिलन को पहचान जाना ही शायद हमारी सब से बड़ी उपलब्धि होती है—इतनी बड़ी कि इस रूपक को थोड़ा और बढा कर हम कह सकते हैं कि वह हमें हो जाती है तो हम ने सीपी मे सागर ही नही सुन लिये होते, हम ने उस मे मोती भी पा लिया होता है।"

इस संग्रह के 'वर्षागम', 'ऊंघ', 'अस्पर्श', 'सबै भूमि गोपाल की', 'चेहरे का मन्दिर', 'शैतान के आइने' और 'मरुथल की सीपियाँ' आदि निबन्ध दर-अस्ल ऐसी ही सीपियाँ हैं जिन में हम न केवल अस्तित्व की अनुभूति के सागर का घोष सुन सकते हैं बल्कि उस मोती को पाने की प्रेरणा भी पा सकते हैं जो और कुछ नही समूचे अस्तित्व के साथ हमारे एकतान हो जाने की अनुभूति का रूपक है।

भारतीय मन का द्वन्द्व

साहित्य की सामाजिक प्रतिबद्धता और सामाजिक परिवर्तन के लिए उसे हथियार की तरह इस्तेमाल करने की मान्यता को लेकर काफी बहस होती रहती है। इस बहस को एक ओर छोड़कर भी इतना तो माना ही जा सकता है कि साहित्य—बल्कि कोई भी कलारूप अपने आप समय के यथार्थ से, और इसलिए सामाजिक यथार्थ से भी, सवेदनात्मक साक्षात्कार की प्रक्रिया है। यदि सामाजिक विकास की प्रक्रिया में मानवीय चेतना और सवेदना की कोई निर्णायक भूमिका है तो साहित्य के माध्यम से यथार्थ के साक्षात्कार की यह प्रक्रिया सामाजिक विकास में इस अर्थ में तो प्रभावी होती ही है कि वह न केवल सामाजिक यथार्थ बल्कि उस के प्रति हमारे दृष्टिकोण के बोध को विकसित करने में हमारी मदद करती है।

हिन्दी साहित्य में इस तरह के सवालों को लेकर उत्तेजना का वातावरण तो कुछ ज्यादा ही है लेकिन रचनात्मक स्तर पर सार्थक प्रयत्न कुछ कम ही दिखाई देते हैं। साहित्य सामाजिक यथार्थ की उस की सभी जटिलताओं के साथ अनुभूति कराता है और उसके निष्कर्ष—यदि उन्हें निष्कर्ष कहा जा सके—किसी भी देश-काल के अपने विशिष्ट स्वरूप से उपजते हैं; वह किसी पूर्वनिर्धारित दृष्टिकोण के अनुसार यथार्थ को सिद्ध कर सकने का प्रयत्न नहीं करता। सामाजिक यथार्थ से जुड़ाव के नाम पर हिन्दी में जो लिखा जा रहा है उस का अधिकांश भाग पूर्व निर्धारित दृष्टिकोण से सामाजिक यथार्थ की व्याख्या का प्रयत्न अधिक लगता है और साहित्य के माध्यम से किसी यथार्थ की अनुभूति करना या करवा सकना उस का केन्द्रीय प्रयोजन नहीं रहता। इसीलिए यह भी समझ में आता है कि इस तरह के अधिकांश लेखन में जमींदार-भूमिहीन किसान, मालिक-मजदूर आदि वर्गों के बीच एक सपाट विभाजन दिखायी देता है और अधिकांशतः एक सरलीकृत आदर्शवादी समाधान भी बड़े अकलात्मक और अस्वाभाविक तरीके से थरपा कर दिया जाता है। यह अजीब लगता है कि पिछले दशक में दक्षिण भारतीय भाषाओं और खास तौर पर कन्नड में कुछ ऐसी कृतियों की रचना हुई है, जिन में

भारतीय सामाजिक यथार्थ और आधुनिक भारतीय मन की जटिलताओं, द्वन्द्व और आकांक्षाओं को कलात्मक अभिव्यक्ति मिली है। प्रेमचन्द की परम्परा के निर्वाह और ग्रामीण जीवन से जुड़ाव के अनथक दावों के बावजूद जाति-प्रथा, दहेज, रूढ़िबद्ध संस्कारशीलता और आधुनिक मानसिकता के द्वन्द्व आदि विषयों पर लिखना जैसे 'आउट ऑफ डेट' हो जाना मान लिया गया है। अकेलापन, असहायता, सन्त्रास, कुंठा, हिंसा और रूढ़िवाद तथा आधुनिकता के बीच का द्वन्द्व अनिवार्यत: पश्चिमी द्वन्द्व ही नहीं है, भारतीय सन्दर्भ में भी इन प्रवृत्तियों के अपने विशिष्ट और त्रासकारी अनुभव हैं जिन्हें दक्षिण में अनन्तमूर्ति और भैरप्पा जैसे लेखक अभिव्यक्ति दे रहे हैं। अनन्तमूर्ति की 'संस्कार' और 'भारतीपुर' तथा भैरप्पा की 'गोधूलि' और 'वंशवृक्ष' जैसी कृतियाँ हिन्दी के साहित्यिक पाठकों में ही नहीं लेखकों में भी पढ़ी और पसन्द की जाती रही हैं। कन्नड लेखक भैरप्पा के उपन्यास 'दाटु' के हिन्दी अनुवाद 'उल्लंघन' के प्रकाशन का भी निश्चय ही इसी दृष्टि से स्वागत किया जायेगा।

उपन्यास की मूल कथा बहुत संक्षिप्त और सरल है। कर्नाटक के एक गाँव तिरुमलापुर के मन्दिर के ब्राह्मण पुजारी की सुशिक्षित कन्या सत्या एवं गाँव के पटेल तिरुमले गौडजी का पौत्र तथा मन्त्री मेलगिरी गौड़ का पुत्र श्रीनिवास विवाह करना चाहते हैं। यह बात दोनों परिवारों को स्वीकार नहीं होती। पुजारी वेंकटरमणय्या और उनका पुत्र वेंकटेश हीन जाति के पटेल परिवार में अपनी पुत्री का विवाह नहीं चाहते तो दूसरी ओर तिरुमले गौड जाति-प्रथा के संस्कारों के कारण तथा मेलगिरी गौड राजनैतिक कारणों से इस विवाह का विरोध करते हैं। श्रीनिवास की माँ अपनी अन्धविश्वासी मनोवृत्ति के कारण आत्महत्या की धमकी देती है। वेंकटरमणय्या भी अपनी पुत्री को पीटते-समझाते हैं लेकिन सत्या के न मानने पर उसे छोड़ देते हैं। लेकिन श्रीनिवास दृढ़ता और साहस के अभाव के कारण झुक जाता है और अपनी ही जाति के एक अन्य प्रभावशाली नेता की सुन्दर पुत्री कुमुदिनी से विवाह कर लेता है। इस सब चक्कर में ब्राह्मणों के कॉलेज में अध्यापिका का काम कर रही सत्या को नौकरी से निकाल दिया जाता है। वह तब कपड़े की दूकान में सेल्सगर्ल का काम कर लेती है। इस प्रकार लगता है कि समस्या सुलझ गयी है। लेकिन ग्रामीण समाज में इस घटना का प्रभाव दूरगामी होता है। वेंकटरमणय्या पर इस घटना का गहरा प्रभाव पड़ता है और वे विक्षिप्त हो जाते हैं। उन का अपनी जवानी में एक हरिजन स्त्री मातंगी से अवैध सम्बन्ध रहा होता है—उस

पत्नी रूप में स्वीकार न कर सकने का अपराध बोध उन्हे ग्लानि से भर देता है जिसका अन्त गृह-त्याग और आत्म-हत्या में होता है। कुमुदिनी की प्रसव-काल मे मृत्यु हो जाती है और श्रीनिवास सत्या की ओर फिर आकर्षित होता है लेकिन सत्या अब विवाह नही करना चाहती। वह पिता की मृत्यु के बाद गांव मे ही एक ब्रह्मवादिनी की तरह जीवनयापन करना तय करती है और श्रीनिवास को गाव के हरिजन विधायक वेट्टय्या की लड़की मीरा से विवाह करने की प्रेरणा देती है। श्रीनिवास और मीरा एक दूसरे की ओर आकर्षित होते और विवाह का निश्चय करते हैं—दोनो मे विवाह पूर्व यौन सम्बन्ध भी कायम हो जाता है। श्रीनिवास का परिवार हरिजन लडकी से विवाह के पक्ष मे नही है। उसे अब सत्या से श्रीनिवास के विवाह मे कोई एतराज नही है। सत्या के भाई वेंकटेश की चाल से श्रीनिवास समझने लगता है कि सत्या मीरा को उसके गले बांधकर स्वय मीरा के भाई मोहनदास से विवाह करना चाहती है जो उग्रवादी हरिजन युवको का नेता है। श्रीनिवास मीरा को अस्वीकार कर शराब मे डूब जाता है। मीरा की ग्लानि उसे आत्म-हत्या की ओर धकेलती है। मोहनदास अन्ततः इस सब का—और शताब्दियो से हरिजनो पर हो रहे अत्याचारो का—बदला लेने के लिए बांध तोड देता है जिसका परिणाम होता है गांव की तबाही और प्राचीन व्यवस्था के प्रतीक मन्दिर का ढहकर बाढ मे बह जाना। सत्या अद्वैत मे विश्वास करती है अतः जाति-प्रथा को एक अन्धरूढि ही मानती है। मन्दिर का ढहना उसके लिए एक रूढि के ढहने का प्रतीक है, भारतीय सस्कृति की आत्मा अद्वैत है जिस मे जातिगत भेद भाव का कोई अस्तित्व नही है। इस अद्वैत मे सत्या की आस्था और अधिक पुष्ट होती है।

इस छोटी-सी मूल कथा के बहाने से उपन्यासकार ने सवा पांच सौ पृष्ठो का एक ऐसा महत्त्वपूर्ण उपन्यास लिखा है जिस में दक्षिण के एक गाँव की रूढिवादी मानसिकता के चित्रण के माध्यम से सम्पूर्ण भारतीय समाज की रूढिग्रस्त मानसिकता का एक विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत हो जाता है। मैरप्पा की विशेषता यह है कि जहाँ हम हर पल दक्षिण भारतीय गाँव की विशिष्ट दशा का अहसास करते रहते हैं वही यह अहसास भी बराबर रहता है कि यह गाँव ही मानो पूरा भारतीय समाज है। दक्षिण में प्रचलित विभिन्न अन्धविश्वासो और रूढ़ियों के माध्यम से समूचे भारतीय समाज की रूढ़िग्रस्तता और अन्धविश्वासो का चित्रण विश्वसनीय और प्रभावी होने के साथ-साथ कलात्मक उत्कृष्टता लिये हुए है।

कमजोर लेखनी के हाथों में पड़कर यह कथा और इसके पात्र एक सतही सरली-करण का शिकार हो सकते थे। लेकिन भैरप्पा का कोई भी चरित्र 'टाईप' नही है, सब का अपना व्यक्तित्व और द्वन्द्व है और यह चारित्रिक द्वन्द्व ही उपन्यास को धारणाओं पर नहीं जीवन्त मनःस्थितियो पर आधारित उपन्यास बना देता है। इस उपन्यास की एक विशेषता यह भी है कि यह जाति-प्रथा को पश्चिमी दृष्टिकोण से खारिज नही करता—बल्कि यदि ऐसा किया जाता तो उपन्यास चरित्रों के आन्तरिक द्वन्द्व से वंचित रह जाता क्योंकि तब उपन्यास का मूल संघर्ष एक पश्चिमी मानसिकता और रूढिवादी भारतीय समाज व्यवस्था के बीच होता जिसका अर्थ होता सपाट चरित्रों की रचना। लेकिन उल्लंघन में जाति-प्रथा को भारतीय परम्परा की, अद्वैत दर्शन की पृष्ठभूमि में रख कर देखा गया है जिस का नतीजा यह हुआ है कि उपन्यास के सभी चरित्रो में एक आन्तरिक सांस्कृतिक द्वन्द्व का विकास होता है जिस की पीड़ा वे अपने-अपने तरीके से भोगते हैं। यह उपन्यास जाति-प्रथा को भारतीय परम्परा की एक विकृति के रूप में प्रस्तुत करता है और इस प्रक्रिया में भैरप्पा भारतीय समाज को एक तटस्थ-दर्शक की तरह नही बल्कि उस के सजीव अंग के रूप में, एक भागीदार के रूप में अनुभव करते हैं और इसीलिए उपन्यास की प्रमाणिकता अधिक गहरे स्तरों पर स्थापित होती है और इसी कारण इन चरित्रो के साक्षात्कार में हम अपना साक्षात्कार भी कर पाते हैं।

जाति-व्यवस्था मात्र एक सामाजिक समस्या नही है, वह सम्पूर्ण भारतीय समाज-व्यवस्था है इसलिए इस समाज-व्यवस्था को पूरी व्यापकता मे आलोचनात्मक स्तर पर समझने के कारण उस के आर्थिक-राजनीतिक पहलू उपन्यास मे बखूबी उजागर हुए हैं। विभिन्न हिन्दू सम्प्रदायो और जातियो के आपसी संघर्षों, स्त्री-पुरुष सम्बन्धो, नयी राजनैतिक व्यवस्था और जाति-प्रथा के पारस्परिक प्रभावो और सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न दृष्टिकोणों और इन सब के कारण सामाजिक जटिलताओं का यथातथ्य चित्रण करते हुए यह उपन्यास किसी प्रकार के सरल आशावाद मे शरण नही लेता। भविष्य के प्रति आस्था की अन्तःसलिला के निरन्तर अस्तित्व के बावजूद वर्तमान परिस्थितियों की क्रूरता और उस के अपरिहार्य परिणामों की दारुणता को भी लेखक ने पूर्ण कलात्मक तटस्थता के साथ प्रस्तुत किया है।

इसे उपन्यासकार की खूबी ही मानना चाहिए कि सामाजिक क्रूरता और वैषम्य के सफल चित्रण के बावजूद किसी भी चरित्र के प्रति घृणा या हिंसा की

भावना नहीं उपजती। सभी चरित्र अपने-अपने आवेगों, संस्कारों और स्वार्थों के घुले-मिले व्यक्तियों के रूप में विकसित होते हैं और इस कारण उन का द्वन्द्व और उन के माध्यम से घटित होने वाली घटनाएँ उपन्यासकार की ओर से किया गया कथानक का विकास नहीं बल्कि उन चरित्रों की और उन के समाज की स्वाभाविक परिणिति लगते है। यही कारण है कि सत्या, मीरा या वेंकटरमणैय्या के लिए ही नहीं, श्रीनिवास और उस के परिवार के सभी सदस्यों, मोहनदास और सत्या के भाई वेंकटेश तक के प्रति पाठकों की पूरी सहानुभूति विकसित होती है और इस का कारण यही है कि भैरप्पा की मूल दृष्टि उपन्यासकार की, एक कलाकार की दृष्टि है— किसी समाज-सुधारक की नहीं।

यदि भैरप्पा की दृष्टि मुख्यतया एक समाज-सुधारक की दृष्टि होती तो चरित्रों के आन्तरिक द्वन्द्व और उस की पीडा के माध्यम से उन के व्यक्तित्व के विकास की बजाय उन का ध्यान किसी सरल समाधान या कृत्रिम भविष्यवाद को चित्रित करने की ओर अधिक जाता। लेकिन भैरप्पा अपने चरित्रों के व्यक्तित्व के संघटन के, उन के द्वन्द्व के एक-एक रेशे को एक सधे हुए कलाकार की तरह चित्रित करते हैं। उपन्यास में घटित बाह्य घटनाएँ उतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं जितना चरित्रों का आन्तरिक विकास—बल्कि घटनाएँ इस आन्तरिक विकास का ही स्थूल प्रतिफलन हैं। इसलिए यह उपन्यास किसी सामाजिक सस्था की विकृतियों और कमजोरियों का चित्रण करने के लिये नहीं लिखा गया है, लेखक की मूल प्रेरणा समकालीन भारतीय मन को एक औपन्यासिक छवि की तरह देखने की रही है—यद्यपि एकाध स्थलों पर शास्त्रीय व्याख्याकार कुछ हावी हो गया लगता है। इस शास्त्रीय व्याख्या के बिना ही यदि भारतीय परम्परा की आत्मा की पहचान केवल संवेदनात्मक स्तर पर ही की गयी होती तो उपन्यास अपने गठन और संवेदनात्मक सम्प्रेषण में शायद अधिक सार्थक हो सकता था।

'उल्लपन' कन्नड़ उपन्यास के विकास से ही हमारा परिचय नहीं करवा कर रह जाता, वह यह भी बताता है कि साहित्य यदि यथार्थ के साक्षात्कार की एक संवेदनात्मक प्रक्रिया है तो एक लेखक समाज को एक औपन्यासिक अनुभव के रूप में किस तरह ग्रहण करता है। अनुवाद के बावजूद वर्णन में ही नहीं संवादों तक में जो स्वाभाविकता बनी रह सकी है वह अनुवादक की सफलता तो है ही, इस बात का भी प्रमाण है कि औपचारिक भिन्नता के बावजूद भारतीय भाषाओं की आत्मा एक है।

अथ राग हिम-लय

क्या यात्रा-वृत्तान्त को रचनात्मक साहित्य माना जा सकता है ? यह तो देखा गया है कि बहुत से लेखक अपनी यात्राओं के वर्णन डायरी या संस्मरणों की तरह लिख कर प्रकाशित करवाते रहे हैं और उन से सम्बन्धित प्रदेशों की सभ्यता-सस्कृति के बारे मे तो महत्वपूर्ण जानकारी मिलती ही है, साथ ही उन लेखकों के अपने रचनासंसार को समझने मे भी मदद मिलती है। आधुनिक हिन्दी लेखकों मे राहुल सांकृत्यायन, अज्ञेय, निर्मल वर्मा और श्रीकान्त वर्मा जैसे लेखकों के यात्रा-वृतान्त न केवल यात्रा वर्णन हैं, वे काफी हद तक इन लेखकों के साहित्य को समझने की एक नयी दृष्टि भी देते है। अज्ञेय के 'एक बूंद सहसा उछली' मे 'पिएर-वित-वीर' मठ के वर्णन से 'आँगन के पार द्वार' के 'चक्रान्त शिला' खंड की कविताएँ अपना सही परिप्रेक्ष्य प्राप्त करती हैं। 'चीडों पर चाँदनी' निर्मल वर्मा की कहानियों के भूगोल को ही नही उन के इतिहास और उस इतिहास से संवेदना पर पड़े प्रभावों को उजागर करता है। श्रीकान्त वर्मा की पिछली कुछ कविताओं मे व्यक्त इतिहास-बोध का उन की यूरोप यात्रा से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है यह केवल 'अपोलो का रथ' पढ कर ही जाना जा सकता है। इन वृत्तान्तों से यह समझ मे आ सकता है कि एक परम्परा से साक्षात्कार लेखक के मन पर किस तरह असर डालता है और किस प्रकार वह अपनी परम्परा को एक नयी दृष्टि से परखता और उस मे से अपने लिए जीवन-रस प्राप्त करता है।

लेकिन तब क्या ऐसे यात्रा-वृत्तान्तों को केवल शोधार्थियों के लिए उपयोगी सह-सामग्री मान कर ही छोड़ा जा सकता है ? या इन्हे किसी 'पर्यटक-पथ-प्रदर्शिका' या समाजशास्त्रीय सर्वेक्षण का स्थानापन्न मात्र मान कर रचनात्मक साहित्य की कोटि से बाहर कर दिया जा सकता है ? ऐसे भी यात्रा-वर्णन होते हैं जो 'टूरिस्ट गाईड' या 'अमुक प्रदेश : एक परिचय' का काम भी बखूबी करते हैं क्यों कि उन मे तथ्यात्मक जानकारी की तो भरमार रहती है किन्तु लेखकीय संवेदना का कहीं कोई प्रमाण नहीं मिल पाता और यदि लेखक महोदय का अपना व्यक्तित्व कहीं उजागर होता भी है तो इसी रूप मे कि वह

अपनी इस यात्रा के दौरान कैसे-कैसे महत्वपूर्ण लोगो से मिले और वे सब इन महोदय के व्यक्तित्व से कितने प्रभावित हुए। ऐसे यात्रा-वर्णन न तो लेखक के मन की उस हलचल का, उस चिन्तन का कोई पता देते हैं जिस की प्रेरक वह यात्रा है और न पाठक के अपने मन पर कोई संवेनात्मक प्रभाव छोड़ते या उसे किसी यात्रानुभव मे शरीक कर पाते है—ऐसे यात्रानुभव मे जो केवल पार्थिव भू-खड की यात्रा से नही, मनोभूमि की यात्रा से ही मिलता है, व्यक्ति मन और सास्कृतिक मन की यात्रा से।

इसलिए यदि कोई यात्रा-वृत्तान्त किसी परम्परा से, उस परम्परा के व्यक्ति-मन से सवेदनात्मक साक्षात्कार का प्रमाण देता है–केवल एकेडेमिक या तथ्यात्मक जानकारी का ही नहीं–और इस साक्षात्कार के अनुभव की प्रक्रिया उस लेखक को (और इसलिए उस के पाठक को भी) वही नही रहने देती जो उस से पूर्व वह था, वह उस के लिए अपने से साक्षात्कार की प्रक्रिया हो जाती है तो उस यात्रा वृत्तान्त को केवल शोधार्थियो के लिए सह-सामग्री या 'टूरिस्ट गाइड' का स्थानापन्न मान कर उस के सर्जनात्मक अस्तित्व की उपेक्षा अनुचित होगी। इस कोटि का यात्रा-वृत्तान्त भी एक प्रकार का सर्जनात्मक साहित्य है, उस का तथ्यपरक होना उस के साहित्यत्व को कम नही करता। आखिर सभी रचनात्मक अनुभव किसी न किसी तथ्य से अनुप्रेरित होते हैं–बल्कि ऐतिहासिक आधारो पर लिखा गया रचनात्मक साहित्य कथा, कविता या नाटक किसी भी विधा में–बहुत दूर तक और कभी-कभी पूर्णतः तथ्यो और घटनाओ पर ही तो आधारित होता है और उस घटना या तथ्य के साथ लेखकीय सवेदना का साक्षात्कार ही उसे कृति-साहित्य का दर्जा देता है। यह ठीक है कि इस तरह के लेखन में कुछ घटनाएँ या चरित्र गढ लेने की छूट रहती है, लेकिन इस से यह नही सिद्ध होता कि घटनाएँ या चरित्र गढना इस तरह के लेखन के लिए अनिवार्य है। मूल बात यही है कि किसी तथ्य या घटना के साथ रिश्ता जानकारी और तर्कसम्मत विश्लेषण का है या सवेदनात्मक। घटना और तथ्य केवल वही हैं या लेखकीय मन का रचनात्मक अनुभव हो गये हैं। यदि कोई यात्रा-वृत्तान्त एक घटना का नही रचनात्मक अनुभव का वृत्तान्त है तो उसे सर्जनात्मक साहित्य ही मानना होगा। अज्ञेय, निर्मल वर्मा और श्रीकान्त वर्मा जैसे लेखकों–इस सूची मे कई नाम और जोड़े जा सकते हैं–का यात्रा साहित्य इसीलिए सर्जनात्मक साहित्य है।

कृष्णनाथ की 'हिमालय कथा' को नयी हिन्दी के इसी सर्जनात्मक यात्रा-

साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। कृष्णनाथ कवि-कथाकार नहीं हैं, वह बौद्धदर्शन और परम्परा के अन्वेषी हैं, लेकिन उन की संवेदना कलाकार की संवेदना है। इसीलिए उन की तीनों पुस्तकों—'स्पीति मे बारिश', 'किन्नर-धर्मलोक' और 'लद्दाख में राग विराग'—मे उन का शोधार्थी व्यक्तित्व कहीं नहीं दीखता—बल्कि कह सकते है कि वह ऐसे लेखक हैं जो केवल यात्रा-वृत्तान्त की विधा के लेखक हैं जैसे कोई केवल कवि या कथाकार होता हैं।

स्पीति, किन्नौर और लद्दाख हिमालय के हृदय प्रदेश हैं। हिमालय से हमारा आधुनिक परिचय या तो 'हिल स्टेशन्स' के माध्यम से है या पर्वती हिन्दू तीर्थों के माध्यम से। कह सकते हैं कि यह परिचय हिमालय के सीमान्त से है। इस सीमान्त की यात्राएँ भी खूब हुई हैं और उन के कई रोचक वर्णन भी पढने का मिलते रहते हैं। मध्य हिमालय की भी तथ्यात्मक जानकारी तो दो चार यात्रा वृत्तान्तो में मिल जाती है लेकिन राहुल सांकृत्यायन के बाद शायद पहली बार हिन्दी मे मध्य हिमालय से संवेदनात्मक साक्षात्कार का यह वरेण्य प्रयास कृष्णनाथ ने किया है। इन तीनों पुस्तको के बारे मे विस्तार से लिखने का अवकाश यहाँ नही है लेकिन यह रेखाकित करना आवश्यक है कि लेखक की दृष्टि मे न तो वह मुग्धता है जो आधुनिक मैदानी जीवन से ऊब कर जाने वाले पर्यटकों में अक्सर मिलती है और न बात-बात पर फूट पड़ने वाली वह गलदश्रु भावुकता जिस के माध्यम से हम अपने मानवतावाद का उद्घोष करते चलते हैं। कृष्णनाथ परम्परा और आधुनिकता के उस नाजुक रिश्ते की खरी पहचान रखते हैं जिस से दोनों एक दूसरे को काटती नही बल्कि स्वस्थ होती हैं। इसीलिए वह यह पहचान पाते हैं कि तिब्बत से कट कर इस प्रदेश की पुरानी दुनिया नष्ट हो गयी है और नयी मिली नही है, "इसीलिए एक शून्य है। एक खोज है। ललक है कि देश हमें अपना माने। हम देश से जुड़ें। देश की धाराओ मे बहे। हम उन के लिए एक अलग दुनिया के वासी रहे हैं। 'इंडिया' से आते रहे हैं।" लेकिन कृष्णनाथ मानते हैं कि यह जुड़ना तभी स्वस्थ और सार्थक हो सकेगा जब उन की भाषा, उन की संस्कृति इस जुड़ने का माध्यम बने। उस के बिना उन की अस्मिता रही रहेगी।

इसीलिए लेखक हमारा ध्यान भोटी भाषा और बौद्ध साधना की उपेक्षा की ओर आकर्षित करते हैं क्योंकि दोनों को जीवित रखे बिना बौद्ध परम्परा को जीवित नहीं रखा जा सकता और बौद्ध परम्परा के नष्ट होने का अर्थ होगा इस प्रदेश की समूची संस्कृति का, एक ऐसी जीवन शैली का नष्ट होना जो

इस प्रदेश की पारिस्थितिकी और एक दर्शन परम्परा के मेल का सुफल है। इस का नष्ट होना इस प्रदेश के निवासियों की जीवन-लय का टूटना है। इसीलिए बौद्ध साधना को जीवित रखने के लिए कृष्णनाथ अल्पकालिक शिविरो का प्रस्ताव करते हैं : सत्यनारायण गोयनका के विपश्यना शिविरों के नमूने पर दुःखी प्राणी को आप अगर 15-20 दिन मे कोई ऐसी साधना विधि दे सकते हैं जिस से वह कुछ शान्ति पाता है तो मैं समझता हूँ वह देने जैसी है। तीन साल, पाँच साल या मृत्युपर्यन्त साधना हो। किन्तु जो दुखी है उस का दुख दूर करने के लिए एक सरल विधि का भी शिक्षण हो। यह स्पीति मे हो सकता है। यहाँ ध्यान सहज लगता है। स्पीति देश का साधना-केन्द्र बन सकता है। इस के ज़रिये स्पीति का विकास भी हो सकता है। लेकिन मूल प्रश्न विकास का नही है। दुख निर्वाण का है। यह कैसे हो सकता है? रास्ता क्या है? मैं इस दुःख प्रश्न को बारम्बार दुहराता हूँ, मुझे इस का उत्तर नही मिलता है। ऐसा लगता है जैसे थकान आ गयी है। धर्म और दर्शन और विचार-दर्शन और साधना पद्धतियो मे थकान आ गयी है। धर्म और विचार दर्शन के मानने वालो मे धार्मिक वृत्ति के लोग हैं। वे निरर्थक हो रहे हैं। ऊबे हुए हैं। फिर भी उसी व्यर्थता मे डूबे हुए हैं। कहाँ जायें? क्या करें? कहते हैं कि इस ऊब से ही नया सृजन होता है। होता होगा। मैं नही जानता कि वह सिरजनहार कौन है? कहाँ है? क्या कर रहा है? क्यों कुछ नही कर रहा है? जब सात सूरज के बराबर गरमी होगी, पृथ्वी गल जायेगी, तब वह इन पहाड़ों से उतरेगा?"

यह लम्बा उद्धरण कृष्णनाथ की शैली का भी एक नमूना है जो यह बताता है कि किस तरह वह एक व्यावहारिक सुझाव देते-देते बुनियादी प्रश्नों और उन के हल न होने पाने की मानवीय पीडा को अभिव्यक्त कर देते हैं। तथ्य, संवेदना, चिन्तन और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति जैसे एकमेक हो जाते हैं। कृष्णनाथ की यह संश्लिष्ट संवेदना उन की तीनो पुस्तकों में सर्वत्र दिखायी देती है और यही वह बात है जो उन के यात्रा-वृत्तान्तों को सर्वेक्षण या 'टूरिस्ट गाइड' के मुकाबले एक सर्जना का दर्जा देती है। "मैं द्रोपदी स्थान पर द्रोपदी को देखता हूँ। हिमवन्त महागिरी में वह अकेली ठिठुर रही है। वह पाँचाली, चक्रवर्ती राजाओं की पत्नी, महाभारत की नायिका यहाँ कहाँ पहाड़ और मिट्टी और बर्फ में लथ-पथ पड़ी है। हिम-आर्त है। फिर भी गर्वीली है। वह विलाप नहीं कर रही है। अन्दर ही अन्दर इसे झेल रही है। कभी

सिसकियाँ लेती है जो हवा में और घाटी में तैरती हैं।" यह द्रौपदी क्या केवल महाभारत का एक चरित्र ही है या एक समूची संस्कृति है जिसे इस देश ने ठिठुरने और गलते रहने के लिए अकेला छोड़ दिया है ?

इस यात्रानुभव के माध्यम से कृष्णनाथ अपने मन के द्वन्द्व और खोज को भी पहचानते हैं, अपना ही एक नया साक्षात्कार करते और उसे इस तरह व्यक्त करते हैं कि प्रत्येक पाठक उस में अपना साक्षात्कार कर सके: फिर लज्जा भी आती है। यह गोनपा है। शून्य स्थान है। पूजा घर है। लामा निवास है। भिक्षु संघ है। मुझे भी अपने जैसा जानकर यहाँ शरण मिली है। त्रिशरण। अनन्य शरण। और मैं गोनपा की छत पर आकाश तले भी कामराग से जल रहा हूँ। आकाश देख रहा हूँ। इतने आवरण के नीचे भी नंगा हूँ। आकाश नीली रोशनी मे मुझे भेद कर अन्तःकरण मे उतर कर सब देख रहा है। जैसे हौल हो जाता है। इस ठंड मे भी मुझे पसीना हो जाता है। एक हल्की परत सारी देह में हैं। शीतल, मन्द बयार। इस मे पसीना सूख रहा है। तो और ठंड लग रही है। कम्प है। और डर भी।...जहाँ तक आकाश के नीचे अकेला से दुकेला या कई तक के साथ सोता हूँ वहाँ डरता हूँ। वही डर लद्दाख के आकाश के नीचे समा रहा है। सोचता हूँ कि और मित्र सो जायें तो सोऊं। इस मे और कितनी देर बीतती है। निमेष उन्मेष। उदय व्यय होता है। साँसों का आना-जाना दीखता है। और सब के ऊपर विभु आकाश। शब्द। अशब्द।"

हिमालय कथा की तीनों पुस्तको की विशेषता यह है कि वे अलग-अलग यात्रा-काल और परिस्थिति की दूरियो को लाँघ कर एक ही लय का आभास देती है। इस से लगता है कि यह लय केवल हिमालय के हृदय की ही लय नही है, यह लेखक के हृदय की भी लय है बल्कि इन दोनों की लय के एकमेक हो जाने से ही उस हिम-लय की प्रस्तुति सम्भव हुई है जो इन पुस्तकों को पढते हुए बराबर पाठक को अपने वृत्त का एक अंग बना लेती है-इसीलिए हम अलग हो कर उस को भोगते नहीं उस का एक अंग हो जाते हैं। अलग तब होते हैं जब पुस्तकें पूरी हो जाती हैं और तब मन मे उसी अनुभव का वही अंग होने की कोशिश चुभने लगती है। यही तो वह रचनात्मकता है जो एक यात्रा-वृत्तान्त को सर्जन का गौरव और सार्थकता देती है।

कविता के सामर्थ्य का अहसास

कविता और जीवन तथा कविता और परिवेश के जुड़ाव की चर्चा हिन्दी के साहित्य जगत मे काफी होती रही है लेकिन बहुत कम कवि ऐसे हैं जिन में अपने परिवेश और जीवन की समग्रता के साथ अन्तरंग जुड़ाव का काव्यात्मक प्रतिफलन हुआ हो। अधिकाशत परिवेश के साथ जुड़ाव किसी खास विचार-धारा या परिवेश के किसी एक पक्ष के साथ जुडाव होकर ही रह जाता है। यह ठीक है कि एक पक्ष का भी महत्व है और इसी कारण कवि छोटा कवि नही हो जाता, लेकिन जब हमारा दावा परिवेश के साथ जुडाव का होता है तब देखना होगा कि कविता मे भी यह परिवेश अपनी समग्रता मे प्रतिबिम्बित हो। इस दृष्टि से सर्वेश्वर हिन्दी के उन बिरले कवियो मे है जिन की सवेदना जीवन और परिवेश के सभी पक्षो को अपने विस्तार मे सहज ही बांध लेती है। समकालीन भारतीय व्यक्ति को प्रभावित करने वाली अधिकांश घटनाएँ सर्वेश्वर को रचनात्मक दबाव का एहसास कराती हैं। वे हिन्दी के उन कवियो मे हैं जिन्हें अपने समकालीन यथार्थ को–स्थूल यथार्थ को भी–वृहत्तर मानवीय सन्दर्भ मे रखकर देखने की क्षमता सहज ही प्राप्त है। यहाँ 'सहज' शब्द का प्रयोग मैं जानते-बूझते कर रहा हूँ क्योंकि सर्वेश्वर की कविता मे वह कृत्रिम अभिव्यक्ति नजर नही आती–उनकी बहुत सपाट कविताओ मे भी–जो फार्मूला मुहावरो को जन्म देती है।

सर्वेश्वर की कविता सामाजिक, राजनैतिक या वैयक्तिक किसी भी विषय पर हो, उन की सवेदना का केन्द्रीय तत्त्व मानव के प्रति उन का प्रेम और तज्जन्य करुणा उनकी सभी कविताओ को एक आन्तरिक सगति प्रदान करती है— बल्कि यह करुणा का आवेग (पैशन) ही उन की कविताओ मे निरन्तर एक लय की तरह रचा-बसा रहता है यद्यपि सामान्य भाषिक लय का उन के यहाँ कई दफा अभाव है। इसी करुणा के कारण सर्वेश्वर के स्वरों मे अभी भी वह आत्मीयता मिलती है जो समकालीन ठंडे मुहावरे मे धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। दरअसल, जीवन की समग्रता के प्रति आग्रह ही है जो सर्वेश्वर

को मूलतः मानवीय करुणा का कवि बनाता है। इसी कारण निकट और स्थूल परिवेश से पूरी गहराई के साथ जुड़ी होने के बावजूद उन की कविता समसामयिकता का अतिक्रमण करती है—चाहे सर्वेश्वर स्वयं वैचारिक स्तर पर अपने समय की सीमा मे ही घिरे रहना पसन्द करते रहे हैं। ऐसा नही है कि सर्वेश्वर में आक्रोश, संघर्ष या क्रान्ति के स्वर नही है लेकिन कवि की सारी घोषणाओ के बावजूद अधिकांशतः वे किसी साहित्येतर आग्रह के कारण नही हैं और इसलिए कविता मे उन का आक्रोश या क्रोध किसी ओछी राजनीति का हथियार नही बनता। यही कारण है कि उनकी कविता में क्रोध भी एक काव्योचित सात्विक क्रोध की तरह अभिव्यक्त होता है जिस का केन्द्रीय आधार मानवीय करुणा है, कोई राजनैतिक दर्शन नही। इस दृष्टि से वे मूलतः, यदि एक प्रमुख मार्क्सवादी विचारक के अनौपचारिक बातचीत में कहे गये शब्द उधार लेकर कहूँ तो, एक लोकतान्त्रिक कवि हैं।

"खूँटियो पर टँगे लोग" की कविताएँ पढ़ते हुए अक्सर मुझे गिल्विक की कविताओं का स्मरण होता रहा। इस संग्रह में सर्वेश्वर ने बहुत सी स्थूल वस्तुओं को "आब्जेक्टिव कोरिलेटिव" की तरह इस्तेमाल करते हुए कई कविताएँ लिखी हैं—मोजा, जूता, कोट आदि। आधुनिक कवियों मे गिल्विक ने वस्तुओं के माध्यम से जितनी कविताएँ लिखी हैं उतनी बहुत कम कवियो ने लिखी होंगी। लेकिन गिल्विक का मुहावरा ठँडा है और उन मे किसी मानवीय जगत का वर्णन नहीं है जबकि सर्वेश्वर चीजों के बहाने हमें उन के मानवीय संसार, उस के द्वन्द्वों और उस की उष्मा का अहसास कराते हैं और एक तरह से वस्तु के बहाने समकालीन मनुष्य के अनुभव जगत को प्रकट करते हैं। काव्य-प्रक्रिया के रूप मे इस तरह की कविताओ का साम्य "असाध्य वीणा" जैसी कविताओ की प्रक्रिया में देखा जा सकता है जिस मे एक पेड़ की कथा के बहाने एक पूरे अनुभव लोक को अभिव्यक्ति दी गयी है। इस तुलना का तात्पर्य सर्वेश्वर की इन कविताओ और "असाध्यवीणा" को एक खाँचे में रखना नहीं है क्योंकि दोनों के प्रतिपाद्य और केन्द्रीय सरोकार और भाषा भी भिन्न हैं, लेकिन जहाँ तक काव्य-प्रक्रिया का सवाल है दोनों मे समानता देखी जा सकती है। लेकिन इस तरह की कविताएँ यह डर जरूर पैदा करती हैं कि कहीं यह भी एक फार्मूला न बन जाय। लेकिन हमें आश्वस्त होना चाहिए कि सर्वेश्वर का कवि किन्ही फार्मूलो मे बद्ध नही हो सकेगा।

इन कविताओ का चर्चा इसलिए भी जरूरी है कि इन मे मनुष्य का दर्द और

संघर्ष बिना किसी बड़बोलेपन के अभिव्यक्त हुए हैं। इस का कारण भी यही है कि सर्वेश्वर की इन कविताओं के आलम्बन मानव-देह के रोज़मर्रा के सम्पर्क के वे उपकरण हैं जो उस की रक्षा करते हैं—अतः उन के माध्यम से सर्वेश्वर इन कविताओं में मानवीय स्पर्श का भी एक अहसास करा पाते हैं। इस संग्रह की कविताओं में मानवीय सम्बन्धों की ऊष्मा, उसे घेरते आतंक के अन्धेरे और इस आतंक से संघर्षरत आदमी एक साथ चित्रित होते हैं। यह बहुत ही मुश्किल काम है और शायद स्वयं सर्वेश्वर ने कहीं कहा है कि यह किसी एक ही कविता में एकसाथ सम्भव नहीं होता और होता है तो कविता को कमजोर करता है—लेकिन "खूँटियों पर टंगे लोग" की कुछ कविताओं में यह सम्भव हुआ है—जगल की याद मुझे मत दिलाओ", "कोट", "एक छोटी सी मुलाकात" और "अच्छा हुआ तुम बाहर आ गयी" जैसी कविताएँ इस का प्रमाण हैं।

यह संग्रह यह अहसास कराता है कि सर्वेश्वर का अनुभव-लोक अधिक व्यापक होता गया है। पाब्लो नेरूदा की तरह उन की इन कविताओं में प्रकृति और प्रेम भी है और उन की रक्षा के लिए मानवीय संघर्ष भी। लेकिन इस से यह न समझा जाये कि इस संग्रह के कवि से मुझे कोई शिकायत नहीं है—बल्कि कई बार उन से बहुत खीझ होती है। वैसा तब होता है जब उन के कवि पर कभी कोई साहित्येतर नैतिक आग्रह हावी हो जाता है—क्योंकि उस के बिना भी उन की कविता वही काम करती है जो वह चाहते हैं—और वह उपदेशक की मुद्रा अख्तियार कर लेते हैं। आज कल तो कभी-कभी अपने गद्य में भी यह ऐसा करते हैं लेकिन इस बारे में विस्तार से कुछ कहना इसलिए जरूरी नहीं लगता कि वह स्वयं यह बात जानते हैं। इसलिए हम तो केवल यह कामना ही कर सकते हैं कि वह यह बात कभी भी भूलें नहीं। अन्त में, यह संग्रह हमें एक बार फिर कविता के सामर्थ्य का अहसास दिलाता है और आश्वस्त करता है कि कविता यदि वह है तो सारे गद्यात्मक आग्रहों के बावजूद उग आ सकती है। "खूँटियों पर टँगे लोग" की बहुत-सी कविताएँ ऐसी ही कविताएँ हैं।

एक संसार स्मृतियों का

कविता के वर्तमान माहौल मे, जहाँ एक ओर कथित वस्तुपरकता का आग्रह कविता को एक कृत्रिम ठंडे मुहावरे मे लपेटता जा रहा है और दूसरी ओर राजनैतिक आग्रह एक चेष्टित आवेश के शोर मे निजता की किसी भी अनुभूति को डुबा देना चाहते हैं, प्रयाग शुक्ल की कविता एक आत्मीय स्वर का अहसास कराती है। इस से यह निष्कर्ष नही निकाला जाना चाहिए कि समकालीन यथार्थ से प्रयाग का सरोकार नही है, पर वह सरोकार किसी राजनैतिक दृष्टि का नही, मानवीय रिश्तों की सार्थकता की खोज में रत एक कवि-कलाकार की दृष्टि का सरोकार है। उन की कविता मे प्रकृति भी है, निजी रिश्तों की खरी अनुभूति भी—पर साथ ही ये सब समकालीन परिदृश्य के बीच स्थित हैं। प्रयाग के काव्य-लोक में एक अनमनेपन का राग निरन्तर बजता है जो बीच-बीच मे हमे समकालीन मनुष्य की मनःस्थिति के निकट ले जाता रहता है। प्रयाग प्रकृति से गहरा लगाव रखते हैं पर यह लगाव प्रकृति के सुन्दर चमकीले दृश्यो या उस की ध्वनि-गूँजो से नहीं है और न वे रहस्यवादी कवियो की तरह अपने को उस मे खोते ही हैं। इसलिए न तो उन के यहाँ प्रकृति के विभिन्न दृश्य-रूपो के साफ-सुथरे चमकते बिम्ब मिलते हैं और न प्रकृति की विविध भंगिमाओं मे किन्ही आध्यात्मिक आशयों की तलाश ही। प्रकृति प्रयाग की कविताओं में एक माहौल रचती है—एक लगाव भरा माहौल जो एक मानवीय स्मृति की उपस्थिति से अधिक अपना लगने लगता है और प्रयाग की कविता को मानवीय आशयों की गहराई देता है।

लेकिन 'यह एक दिन है' की ये कविताएँ पाठक को अपने अनुभव-लोक मे सीधे नही ले जाती। इन्हें पढ़ते हुए अधिकाशत यह लगता रहता है कि कविता मे जो कुछ वर्णित है वह मानो कोई प्रत्यक्ष अनुभव नही बल्कि किसी अनुभव की गहरी स्मृति है जिस में से गुजरने पर ही मूल अनुभव की दिशा खुलती है—इस प्रकार यह मूल अनुभव पाठक को लगातार अपनी तरफ खीचता है। ज्यो-ज्यो हम इस मे उतरते जाते हैं, हमें एक आत्मीय संसार की स्मृतियाँ मिलती जाती

हैं जो इस संसार के न रहने की पीडा को कुरेदती हैं। प्रयाग इस पीडा का प्रदर्शन नहीं करते बल्कि उसे एक आत्मसंयम–रेस्ट्रेन–के साथ गहराई से उस का अहसास कराते हैं—और यही चीज़ है जो उन्हें बुनियादी अर्थों में आधुनिक कवि बनाती है।

प्रयाग अपनी कविता में यह 'रेस्ट्रेन' विकसित कर पाते है इस का कारण बहुत हद तक आधुनिक चित्रकला के प्रति उन का रुझान हो सकता है और शायद इसी कारण वे एक ऐसी लय गढते है जिस में उन के स्मृति बिम्ब पृथक और स्पष्ट आकार नही ग्रहण करते बल्कि हल्के रंगो के एक-दूसरे के साथ हौले से मिल कर एक समग्र प्रक्रिया में सहयोगी हो जाते है। इस 'रेस्ट्रेन' का एक कारण शायद इन स्मृतियों के प्रति कवि का लगाव है जिस की वजह से वह इन में से दबे पाँव ही गुज़रना चाहता है—यह ध्यान रखते हुए कि उस की किसी असावधानी से यह स्मृति-लोक टूट न जाय।

बहुत से लोगों को आश्चर्य होगा यदि मैं कहूँ कि प्रयाग मुझे सही अर्थों में 'नास्टेलजिआ' के कवि लगते हैं—'सही अर्थों में' पर जोर इसलिए है कि यह 'नास्टेलजिआ' उस आत्मीयता और मानवीय ऊष्मा के लिए है जिस के बिना जीवन जड़ होता चला जा रहा है। यह उन्हें अस्वस्थ नही करता, किसी रुग्ण आत्मरति मे नही डुबाता क्योंकि वहाँ बराबर उस आत्मीयता के छीजते चले जाने का दर्द है जो हमें अपने समग्र परिवेश से मानवीय स्तर पर जोड़ती है। यही कारण है कि प्रयाग की कविताओं के ब्यौरे, जो शुरू में तथ्यपरक लगते हैं, बीच में किन्ही एक दो पंक्तियों के गघात से एक अनुभव में संयोजित हो जाते हैं और एक अनुभव वृत्त हमारे सम्मुख इस तरह उजागर होता है जैसे बादलों की छाँह से भरे परिदृश्य मे अचानक कही एक आलोकवृत्त उजागर हो जाय—लेकिन तेज और चमकीला नही, एक हल्की रोशनी मे एक दृश्य को हौले से खिला देता हुआ।

प्रयाग से कुछ शिकायतें भी मुझे हैं—एक समानधर्मा मित्र की निजी शिकायतें। मुझे लगता है कि प्रयाग इन कविताओं मे लय के प्रति अधिक सचेत हो सकते थे। वे अपने 'नास्टेलजिआ' के भाव को मानवीयता को बनाये रखते हुए उसे आध्यात्मिक नही तो एक सांस्कृतिक आयाम तो दे ही सकते थे और तब उनकी कविता शायद मुझ जैसे पाठक को और अधिक आकर्षित करती। उन्ही की पंक्तियाँ है.

मै जानता हूँ कि यह हवा

कई पत्थरों से होती हुई आती है
उन्हें ज्यों का त्यों जमा रहने देकर
लेकिन लाती है कई अतल स्पर्श।

प्रयाग की कविताएँ आगे और भी अतल स्पर्श ला सकेंगी, यह सिर्फ औपचारिक शुभाशंसा नहीं है।

बरामदे में भीगती खाली कुर्सी

प्रयाग शुक्ल के पिछले कविता-संग्रह 'यह एक दिन है' की समीक्षा करते हुए मैं ने लिखा था कि प्रयाग की कविता में अनुभव सीधे नहीं आते—बल्कि अनुभव की स्मृति स्वयं एक अनुभव हो जाती है और इस कारण स्मृति-लोक रचते हुए भी उन की कविताएँ काव्यात्मक अर्थों में एक तात्कालिकता का अहसास कराती रहती हैं। प्रयाग शुक्ल के नये संग्रह 'रात का पेड़' की कविताएँ इस मन्तव्य को पुष्ट ही करती हैं। लेकिन यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि मैं यह बात प्रयाग की आलोचना में नहीं कह रहा। पिछले वर्षों में जब समूची हिन्दी कविता को एक ही रास्ते पर हाँक ले जाने के प्रयास कम नहीं हुए, प्रयाग जैसे कवियों की उपस्थिति ने उजाड़ रेगिस्तान के बीच हरियाली का अहसास दिया और आज अगर हिन्दी कविता में आत्मीयता और कोमलता जैसे मानवीय गुण जीवित हैं तो इस के लिए प्रयाग शुक्ल जैसे कवियों की सार्थकता को रेखांकित किया जाना चाहिए।

प्रयाग स्मृति के अनुभव से अपनी कविता रचते हैं। लेकिन ये स्मृतियाँ किन्हीं घटनाओं या विशिष्ट दृश्यों की स्मृतियाँ नहीं हैं, बल्कि वे सामान्य जीवन से उठाये गये दृश्य हैं—ऐसे दृश्य जिन में 'सड़कें, प्लेटफार्म, बसें, पुलों के नीचे गृहस्थियाँ, मूँगफलियों के छिलके, बर्तन माँज कर लौटती स्त्रियाँ, पुराने किलों से बाहर आते पर्यटक, हाथी, स्तब्ध बाग, शोर करते खेलते बच्चे, खेत में किसान, नदी में नावें, चाय की दुकानें, घरों में बसे हुए दिन, उठता हुआ धुँआ और धरती के मन को छूती हुई घास' सब एक साथ हैं और कविता इन सब के बीच किसी गुमशुदा की, अर्थात् अपनी अर्थात् इन सब के बीच उस रिश्ते की तलाश कर रही है जो इन सब को अलग-अलग चीजें नहीं रहने देता, एक दृश्य में बदल देता है। यह चित्रकला की तकनीक है और हम जानते हैं कि प्रयाग आधुनिक चित्रकला से गहराई से जुड़े हैं। अतः मान सकते हैं कि इस तकनीक का सार्थक प्रयोग उन की कविता में है—और यहीं यह भी प्रमाणित होता है कि विभिन्न कलाएँ एक-दूसरी की विधियों का सर्जनात्मक उपयोग

कैसे करती है। अलग-अलग चीज़ों को एक दृश्य-बन्ध में संकलित कर लेने में रंगों का टोन एक अन्तः सूत्र की भूमिका निर्वाह करता है; प्रयाग की कविता मे भी उनका टोन या लहजा यह काम करता है और इस के कारण अलग-चीज़ें एक दृश्य मे ही नही बदलती, एक मनःस्थिति हो जाती है। इसलिए यह कहना ज्यादा सही होगा कि प्रयाग की कविता में घटनाओं की ही तरह न तो चीज़ों की स्मृतियाँ हैं और न दृश्यों की—वह दरअसल मनःस्थिति की स्मृति की कविता है जिस की अजीव कौंध में हर चीज़ आलोकित है:

जमा हुआ पानी यह।
पार्क की जंग लगी रेलिंग मे,
अटका हुआ टुकड़ा अखबार का।
घना पेड। बादल ठहरे हुए।

जरा आगे बढते ही
कौंध है अजीव एक
हरेक चीज़ की !

(—वर्षों की सिड़कियाँ)

और कविताओं की सफलता इस बात में है कि मन.स्थिति और चीज़ें एक-दूसरे में इतनी घुलमिल जाती हैं कि यह पता करना बहुत मुश्किल हो जाता है कि वास्तव मे दृश्य से मनःस्थिति बनी है या मन.स्थिति से दृश्य। सम्भव है पिछली बात अधिक सही हो, पर प्रयाग का लहजा दोनों को घुला देता है।

तो क्या प्रयाग लहजे के कवि हैं और यह लहजा ही उन की उस काव्य-भाषा की रचना करना है जिस मे अलग-अलग चीजें संहत होकर दृश्य मे और दृश्य मन.स्थिति मे बदल जाता है ? प्रयाग की काव्य-भाषा की विशिष्टता भी यही है जिस के कारण बोलचाल की भाषा मे सामान्य चीज़ों का वर्णन करते-करते वे अचानक हमारे मन मे उतर जाते हैं। लेकिन यह टोन प्रयाग की खूबी भी है और सीमा भी—वे इस का अतिक्रमण नहीं कर पाते और इसलिए उन की कविता एक ही वृत्त मे घूमती रहती है। मैं यह आलोचना के स्वर मे नहीं, अपेक्षा के, माँग के स्वर मे कह रहा हूँ। कहीं-कहीं तो चीज़ें और दृश्य भी नहीं रहते, सिर्फ लहजा बच रहता है—पर दुर्भाग्य से वहाँ कविता भी कम बच पाती है: 'आ गयी बौरें', 'सारा जीवन' और 'फिर आने हैं तारे' आदि ऐसी ही कविताएँ हैं। पर कभी 'वह' जैसी कविता भी बन जाती है जो एक

बरामदे में भीगती खाली कुर्सी

प्रयाग शुक्ल के पिछले कविता-संग्रह 'यह एक दिन है' की समीक्षा करते हुए मैं ने लिखा था कि प्रयाग की कविता मे अनुभव सीधे नही आते—बल्कि अनुभव की स्मृति स्वयं एक अनुभव हो जाती है और इस कारण स्मृति-लोक रचते हुए भी उन की कविताएँ काव्यात्मक अर्थो मे एक तात्कालिकता का अहसास कराती रहती हैं। प्रयाग शुक्ल के नये संग्रह 'रात का पेड' की कविताएँ इस मन्तव्य को पुष्ट ही करती हैं। लेकिन यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि मैं यह बात प्रयाग की आलोचना मे नही कह रहा। पिछले वर्षो मे जब समूची हिन्दी कविता को एक ही रास्ते पर हाँक ले जाने के प्रयास कम नही हुए, प्रयाग जैसे कवियो की उपस्थिति ने उजाड रेगिस्तान के बीच हरियाली का अहसास दिया और आज अगर हिन्दी कविता मे आत्मीयता और कोमलता जैसे मानवीय गुण जीवित हैं तो इस के लिए प्रयाग शुक्ल जैसे कवियो की सार्थकता को रेखाकित किया जाना चाहिए।

प्रयाग स्मृति के अनुभव से अपनी कविता रचते हैं। लेकिन ये स्मृतियाँ किन्ही घटनाओ या विशिष्ट दृश्यों की स्मृतियाँ नही है, बल्कि वे सामान्य जीवन से उठाये गये दृश्य है—ऐसे दृश्य जिन मे 'सड़कें, प्लेटफार्म, बसें, पुलो के नीचे गृहस्थियाँ, मूँगफलियाँ के छिलके, बर्तन माँज कर लौटती स्त्रियाँ, पुराने किलों से बाहर आते पर्यटक, हाथी, स्तब्ध बाग, शोर करते खेलते बच्चे, खेत मे किसान, नदी मे नावें, चाय की दुकानें, घरों में बसे हुए दिन, उठता हुआ धुँआ और धरती के मन को छूती हुई घास' सब एक साथ हैं और कविता इन सब के बीच किसी गुमशुदा की, अर्थात् अपनी अर्थात् इन सब के बीच उस रिश्ते की तलाश कर रही है जो इन सब को अलग-अलग चीजें नही रहने देता, एक दृश्य मे बदल देता है। यह चित्रकला की तकनीक है और हम जानते हैं कि प्रयाग आधुनिक चित्रकला से गहराई से जुड़े हैं। अतः मान सकते है कि इस तकनीक का सार्थक प्रयोग उन की कविता मे है—और यही यह भी प्रमाणित होता है कि विभिन्न कलाएँ एक-दूसरी की विधियो का सर्जनात्मक उपयोग

कैसे करती हैं। अलग-अलग चीजों को एक दृश्य-बन्ध में संकलित कर लेने में रंगों का टोन एक अन्तः सूत्र की भूमिका निर्वाह करता है; प्रयाग की कविता में भी उनका टोन या लहजा यह काम करता है और इस के कारण अलग-चीज़ें एक दृश्य में ही नहीं बदलती, एक मनःस्थिति हो जाती हैं। इसलिए यह कहना ज्यादा सही होगा कि प्रयाग की कविता में घटनाओं की ही तरह न तो चीज़ों की स्मृतियाँ हैं और न दृश्यों की—वह दरअसल मन·स्थिति की स्मृति की कविता है जिस की अजीब कौंध में हर चीज आलोकित है:

> जमा हुआ पानी यह।
> पार्क की जंग लगी रेलिंग में,
> अटका हुआ टुकड़ा अख़बार का।
> घना पेड। वादल ठहरे हुए।
>
> जरा आगे वढ़ते ही
> कौंध है अजीब एक
> हरेक चीज़ की!

(—वर्षों की खिड़कियाँ)

और कविताओं की सफलता इस बात में है कि मनःस्थिति और चीजें एक-दूसरे में इतनी घुलमिल जाती हैं कि यह पता करना बहुत मुश्किल हो जाता है कि वास्तव में दृश्य से मनःस्थिति वनी है या मन.स्थिति से दृश्य। सम्भव है पिछली वात अधिक सही हो, पर प्रयाग का लहजा दोनों को घुला देता है।

तो क्या प्रयाग लहजे के कवि हैं और यह लहजा ही उन की उस काव्य-भाषा की रचना करता है जिस में अलग-अलग चीजे संहृत होकर दृश्य में और दृश्य मनःस्थिति में बदल जाता है? प्रयाग की काव्य-भाषा की विशिष्टता भी यही है जिस के कारण बोलचाल की भाषा में सामान्य चीज़ों का वर्णन करते-करते वे अचानक हमारे मन में उतर जाते हैं। लेकिन यह टोन प्रयाग की खूबी भी है और सीमा भी—वे इस का अतिक्रमण नहीं कर पाते और इसलिए उन की कविता एक ही वृत्त में घूमती रहती है। मैं यह आलोचना के स्वर में नहीं, अपेक्षा के, माँग के स्वर में कह रहा हूँ। कहीं-कहीं तो चीजें और दृश्य भी नहीं रहते, सिर्फ लहजा बच रहता है—पर दुर्भाग्य से वहाँ कविता भी कम बच पाती है: 'आ गयी बौरें', 'सारा जीवन' और 'फिर आते हैं तारे' आदि ऐसी ही कविताएँ हैं। पर कभी 'वह' जैसी कविता भी बन जाती है जो एक

रहस्य की तरह प्रभावित करती है और प्रयाग के काव्य-स्वभाव के विरुद्ध प्रतीकात्मकता अख्तियार कर लेती है :

> वह तेज चमकती
> चीज
> अँधेरे मे।
>
> (—वह)

इस संग्रह मे 'बारिश' को लेकर कई कविताएँ हैं। हमारे यहाँ बारिश एक सुखद अनुभव है, पर प्रयाग के यहाँ उन के उदास लहज़े के कारण वह भीतर तक भिगोती हुई भी अन्दर की गहरी उदासी को धो नही पाती और वहाँ भी भीगते हुए आदमी की बजाय :

> एक कुर्सी भीगती है
> बरामदे मे एक खाली पड़ी कुर्सी
>
> (—खूब बारिश)

मज़े की बात यह है कि प्रयाग गर्मियो मे भी उदास तो रहते हैं, पर वहाँ "सहसा हवा आकर बहुत कुछ सुलझा जाती है/हमारे भीतर।" तो क्या प्रयाग को खुली हवा की प्रतीक्षा है जिस के बिना वह घुटे-घुटे महसूस करते हैं ? वह क्या चीज है जो प्रयाग तक खुली हवा को नही पहुँचने देती ? निश्चय ही वह समकालीन परिदृश्य का दबाव तो है ही जिसे प्रयाग किसी भी संवेदनशील कलाकार की तरह बहुत गहराई से महसूस करते हैं, पर यह उन का उदास लहज़ा भी है। लेकिन सच कहूँ कि प्रयाग का यह लहज़ा भी मुझे कम प्रभावित नही करता—अगर एक आलोचक की हैसियत से, उन की काव्य-यात्रा मे गहरी रुचि लेने वाले एक लेखक-मित्र की हैसियत से विचार न करना हो तो मैं इन कविताओ को बिना ऊबे पढता रह सकता हूँ। अज्ञेय की ये पंक्तियाँ प्रयाग शुक्ल की इन कविताओ पर सटीक टिप्पणी है: मन बहुत सोचता है कि उदास न हो/पर उदासी के बिना रहा कैसे जाय ?"

ढलानों पर वसन्त की स्मृति

सब कुछ बीतता जाता है
हमेशा हम बचे रह जाते हैं
किसी स्वप्न के भीतर दुबके हुए
अपनी बची-खुची जिन्दगी बचाते हुए
सोचते हुए कि एक दिन
कोई विस्फोट होगा और जिन्दगी
बदलेगी

(—पैरों के पीछे)

मंगलेश डबराल के कविता-संग्रह 'पहाड़ पर लालटेन' की ये पंक्तियाँ उन की कविताओं की व्याख्या भी हैं, क्योंकि उन में एक क्रूर दुनिया में अपने को बचाने की कोशिश है और यह कोशिश ही कवि और उस के पाठक को उन पहाड़ों में ले जाती है जहाँ 'धूप में तपती हुई चट्टानों के पीछे वर्षों के आर्तनाद हैं', पर साथ ही 'थोड़ी-सी घास है बहुत प्राचीन पानी में हिलती हुई' और

दूर एक लालटेन जलती है पहाड़ पर
एक तेज आँख की तरह
टिमटिमाती धीरे-धीरे आग बनती हुई

(—पहाड़ पर लालटेन)

और इस प्रकार जिन्दगी को बदल देने वाले विस्फोट की आकांक्षा भी अभिव्यक्त होती है।

मंगलेश के काव्य-लोक में एक गहरी वेदना है यह वेदना जो आस्था की माँ है। उन की कविताओं के जिस आत्मीय स्वर की बहुत बात हुई है वह इसी वेदना में से गुजरते हुए अर्जित किया गया है, अतः वह केवल एक भंगिमा नहीं है बल्कि खरा और अनुभूत है। और शायद इसी कारण किसी भी प्रकार के

आरोपित आशावाद से यह स्वर ग्रस्त नही है, बल्कि आश्चर्यजनक तो यह है कि बहुत-सी कविताओं का अन्त एक निराशा के बिन्दु पर होने के बावजूद मंगलेश की खरी आत्मीयता चारों ओर व्याप्त क्रूरता के अहसास के बावजूद पाठक को किसी 'मेलनकॉलिया' में नही ढकेलती, बल्कि एक ऐसा धीरज देती है जो संघर्ष की गहरी आस्था में से उपजता है। शायद यही कारण है कि मंगलेश की कविता में अधिकांशतः न तो सपाट और सरलीकृत क्रान्तिकारी तेवर है और न बौद्धिक विश्लेषण जो हर चीज़ को एक थीसिस के अन्तर्गत समझना चाहता है। कहीं-कहीं एक तरह की 'विशफुल थिंकिंग' से उत्पन्न सरल आशावाद जरूर मिलता है, और जहाँ भी वह है उस ने कविता का नुकसान ही किया है। 'पहाड पर लालटेन' कविता में समय की क्रूरता का अहसास गहराई में ले जाने वाले बिम्बों में व्यक्त होता है, ऐसे बिम्बों में जो पहाड के यथार्थ से उपजे हैं:

> जिसे तुम्हारे पूर्वज लाए थे यहाँ तक
> वह पहाड दुख की तरह टूटता आता है हर साल
> सारे वर्ष सारी सदियाँ
> बर्फ़ की तरह जमती जाती हैं नि:स्वप्न आँखों में
> तुम्हारी आत्मा में
> चूल्हों के पास पारिवारिक अन्धकार में
> बिखरे है तुम्हारे लाचार शब्द
> अकाल में बटोरे गए दानों जैसे शब्द
>
> दूर एक लालटेन जलती है पहाड़ पर

लेकिन इस के बाद कविता एक भावुकता का शिकार हो जाती है और सपाट ब्यौरों में चली जाती है जिन का कोई काव्यात्मक प्रभाव नही छूटता। यह नही कि वे ब्यौरे गलत है, पर उन्हें जितना सपाट तरह से एक आवेश के सहारे कहने की कोशिश की गयी है, वह एक वक्तृता तो हो सकती है पर कविता नही—खासतौर से वैसी कविता तो बिल्कुल नही जो मंगलेश डबराल को एक विशिष्ट कवि बनाती है। सौभाग्य से ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं। लेकिन ऐसी स्थिति मंगलेश के ही नही, अन्य बहुत-से युवा कवियों के साथ भी है, इसलिए इस पर विचार किया जाना चाहिए कि स्मृतियों और वर्तमान की क्रूरता का अहसास जैसे गहरे बिम्बों की सृष्टि करता है, वैसा आकांक्षाओं के

साथ क्यों नहीं हो पाता ? क्या आकांक्षा अनिवार्यतः 'विशफुल थिंकिंग' है ? या कवि का यथार्थवादी रुझान मानवीय भविष्य में घोषित आस्था के बावजूद इसे काव्यात्मक स्तर पर अनुभव नहीं कर पाता ? शायद इसीलिए कुछ कवि ऐसी कविता करते हैं जो उन की आस्थाओं और सपनों की घोषणा नहीं करती, यद्यपि इन की कविता की सरचना के ताने-बाने में उन का सूत भी मिला होता है। ऐसे कवि की आस्था उस की कविता की सरचना में ही पहचानी जा सकती है और इसलिए उन को सूक्तियों या सरलीकृत कथनों का सहारा नहीं लेना पड़ता। 'पहाड़ पर लालटेन' की कविताएँ पढ़ते हुए लगता है कि मगलेश में ऐसी कविता की पूरी सम्भावना है, यदि वह उस सरलीकरण और सपाटता से अपनी कविताओं को बचा सकें जो 'पहाड़ पर लालटेन', 'खिड़की' 'मुक्ति', 'तानाशाह' और 'साम्राज्ञी' जैसी कविताओं के अन्तिम अंशों में दीखती है।

दरअस्ल, मंगलेश का काव्य-मिज़ाज आत्मपरक है। पर इस से यह न समझा जाए कि वे संकुचित अर्थों मे आत्मकेन्द्रित कवि हैं। आत्मपरक काव्य-मिज़ाज से मेरा तात्पर्य यही है कि वह निजी अनुभव में ही समूची मानवीय पीड़ा को पहचानते हैं इसलिए उन की कविता सामाजिक पीड़ा को व्यक्त करती हुई भी सामाजिक सन्दर्भों में से गुज़रना ज़रूरी नहीं समझती। 'दुःस्वप्न' एक ऐसी ही कविता है जिस मे एक निजी अनुभव से गुज़रते हुए उस 'भयावह सुनसान' को महसूस किया गया है जो सभी की आत्माओं में व्याप्त है :

> धीरे-धीरे उस की पथरायी आँखें
> मेरी आँखों तक उठती हैं
> उस के सर्द हाथ मेरे चेहरे को थामते हैं
> और मैं उस के अन्धकार में
> प्रवेश करता हूँ एक और अन्धकार की तरह
>
> और वहाँ होता है एक भयावह सुनसान
> और दर्द और इतिहास

लेकिन 'भयावह सुनसान' के बाद 'दर्द' और फिर 'इतिहास' को साथ रखने की क्या ज़रूरत है—खास तौर पर तब जब कि कविता के शुरू में ही पीछे छूट गये सपनों को रेखांकित कर दिया गया है। लगता है कि 'इतिहास' का उल्लेख भी एक काव्य-रूढ़ि बन चुका है जिस के सहारे एक निजी अनुभव को

एक सामाजिक अनुभव की तरह रखने की पेशकश की जाती है। लेकिन क्या इस की कोई रचनात्मक आवश्यकता थी ? —बल्कि क्या इस से अनुभव का काव्यात्मक सम्प्रेषण कुछ उथला नही हो जाता ? क्या कविता का कोई भी अच्छा पाठक 'भयावह सुनसान' मे उस 'दर्द' और 'इतिहास' को और भी गहराई से अनुभव नही कर लेता जो अलग से कह देने पर एक बहुत अच्छी कविता को कुछ गद्यात्मक कर देता है ? शहर के अनुभवो का वर्णन करने वाली कविताओं मे यह प्रवृत्ति कुछ अधिक हावी है और इसी कारण वे सपाट हो रही हैं।

फिर भी मगलेश के इस पहले सग्रह में अच्छी कविताओं की संख्या इतनी अधिक है कि उन्हे अलग से गिनाने की ज़रूरत नही है। वह ऐसे कवि नही लगते जिन का नाम लेते ही फकत दो-चार कविताएँ याद आ जाती हो क्यो कि उन की कविताएँ अलग-अलग होते हुए भी एक बडी कविता का हिस्सा लगती है। और इसलिए उन की कविताओ की स्मृति किसी धीमे गतिमय बिम्ब की तरह बनी रहती है। पर यह बिम्ब दूर पहाड़ी पर 'टिमटिमाती आग होती हुई' लालटेन का नही है और न ही बार-बार दुहराया गया लहुलुहान चिडिया का बिम्ब है—यह बिम्ब है पहाड़ी ढलानो पर वसन्त की स्मृति का .

> इन ढलानो पर वसन्त
> आयेगा हमारी स्मृति मे
> ठंड से मरी हुई इच्छाओं को
> फिर से जीवित करता हुआ
>
> (—'वसन्त')

मगलेश की कविता भी यही कोशिश करती है और इसलिए वह अवसाद की कविता नही है, अवसाद से घिरी आस्था की स्मृति है—यद्यपि अवसाद की कविता होने पर भी वह इतनी ही अच्छी कविता होती।

खोयी हुई बयाज़ों की तलाश

शीन काफ निज़ाम को मुख्यतः गज़लगो माना जाता है। लेकिन यदि उन की अपनी भाषा में उन के रचना संसार के केन्द्रीय सरोकार को समटेने की कोशिश करें तो मुझे उन की एक नज्म याद आती है—'बयाज़ें खो गयी हैं'। नज्म कहती है कि ये वो बयाज़ें थी जिन में 'अनदेखे परिन्दों के पते', 'फूलों की सरगोशियां', 'पहाड़ों के रमूज़ और आवशारों की जुबां', 'समुन्दर और सूरज की अदावत के अफसाने', 'परिन्दों और पेड़ों के बाहमी रिश्ते' तो लिखे ही थे, साथ ही हमारी विकास-यात्रा की उलझनें भी जिन से दीप्त हो उठती थी—'हमारे इर्तिका की उलझनें जिन से मुनव्वर थीं'। ध्यान देने की बात यह है कि उन से वे उलझनें सुलझती नहीं थीं, बल्कि 'मुनव्वर' थीं। अब वे बयाज़ें खो गयी हैं और 'लुगत'—हमारी भाषा—हम से परेशान है। निज़ाम की कविता इन खोयी हुई बयाज़ों की तलाश है।

यह निरी 'होमसिकनेस' या रोमांटिक 'नॉस्टेलजिया' नहीं है। निज़ाम की कविता ज़िन्दगी से भागती नहीं है। वह आज की ज़िन्दगी के तनाव और संघर्ष में उन बयाज़ों से ताकत लेना चाहती है ताकि 'लुगत'—हमारी भाषा, हमारे होने की सार्थकता—हम से परीशां न हो। यह अपने को अतीत में लौटाना नहीं है, यह वह बात है जिसे 'अतीत की वर्तमानता' कहा गया है—एक परम्परा को अपने में महसूस करना, अपने रक्तप्रवाह की तरह।

यही कारण है कि 'दश्त में दरिया' की कविता परम्परा से कहीं टूटती नहीं—वह उस के रस में अपना सर्जनात्मक विकास करती है। निज़ाम की प्रतिभा विस्फोट नहीं है, वह फूल की तरह अजाने खिलती है। मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है कि निज़ाम गज़ल के औपचारिक रूप को लेकर इतने आग्रही क्यों हैं? कहीं यह आत्मविश्वास की कोई कमी तो नहीं है? वे उसे तोड़ते क्यों नहीं, जब कि उन की नज्म में इस के प्रमाण मिलते हैं कि वे औपचारिक या रूढ़ रूप-विधानों से बख़ूबी हट सकते हैं। लेकिन फिर ख्याल आता है कि शायद इस फार्म में ही वह अपनी काव्य-परम्परा की तलाश करते हैं क्योंकि

कथ्यगत संवेदना की दृष्टि से उन की कविता उर्दू कविता के पारम्परिक ढांचे से अलग है। 'फ़िराक' के बारे में माना जाता है कि उन्होंने उर्दू कविता को भारतीय संस्कार दिया। निज़ाम इसी रास्ते के मुसाफिर हैं। 'फ़िराक' की कविता यह काम सन्दर्भों की मदद से करती है, लेकिन बहुधा ये सन्दर्भ काव्य-सवेदना की ऊपरी सतहों पर ही रहते है। हां, भाषा का मिजाज जरूर उस से बदला है। निज़ाम की कविता इन सन्दर्भों से गहरे काव्यात्मक स्तर पर प्रतीकात्मक अर्थवत्ता बरामद करती है :

मुम्किन है खाके-पा का करे वो भी इन्तिज़ार
मिलता है उसका रग भी पत्थर के रंग से।
इक चीख दब के रह गयी आफाक के करीब
निकलेगा पा-ए-फील क्या दहने-निहग से।

अपनी परम्परा के—और यह परम्परा कोरी दार्शनिक परम्परा नहीं है, मानवीय रिश्तों की, हमारी सामाजिक आत्मीयता की परम्परा, लोक-परम्परा भी है—छीजते चले जाने का दर्द निज़ाम की कविता की केन्द्रीय वस्तु है और इस दर्द के ही कारण गज़ल का औपचारिक या रूढ़ ढांचा भी निज़ाम की कविता के लिए मौजूं छन्द बन जाता है और एक पारम्परिक काव्य-रूप को अपनाते हुए भी वे बहुत गहरे स्तरो पर अपने परिवेश के दर्द और अन्तर्द्वन्द्वो से जुड जाते है। लेकिन वे एक आधुनिक कवि हैं, इसीलिए उन के यहाँ यह दर्द आहो-फुगाँ नही बनता। उन की अभिव्यक्ति मे एक 'रेस्ट्रेन', एक अद्भुत काव्य-संयम हैं जो न केवल गलदश्रु भावुकता से बचाता है, बल्कि उस दर्द को झेलने, उस के सम्मुख खड़े होने का सामर्थ्य भी देता है। कोई कविता अपने समय के दर्द को इस तरह रखे कि हम उसे पूरी शिद्दत से महसूस करते हुए भी उस दर्द के बरअक्स खड़े होने का सामर्थ्य पा लें, प्रासंगिकता का इस से बेहतर प्रमाण और क्या हो सकता है! निज़ाम की कविता इन्हीं अर्थों मे अपनी प्रासगिकता और सार्थकता अर्जित करने की ओर उन्मुख है, यह अह-सास 'दश्त मे दरिया' पढते हुए और घना होता जाता है। खासियत यह कि यह काम वह उस काव्योचित सहजता के साथ करते हैं जो अपनी भाषा के साथ गहरे रचनात्मक संघर्ष मे से ही उपज सकती है :

मसअला हल करे तो कैसे करे
इब्ने-मरियम के अपने गम हैं मियाँ।

कौन उस को जलाने वाला था
अपनी ही आग में जला जंगल।

दरवाज़े सारे शहर के अन्दर से बन्द हैं
अब के अजीब लोगों के पाले पड़ी है धूप।

निज़ाम की कविता जिस सामाजिक आत्मीयता की–कहना चाहिए सामाजिक आत्म की–तलाश करती है उस के पीछे कोई राजनीतिक या नैतिक आग्रह नहीं है। उस का कारण समूचे अस्तित्व के साथ एकत्व की अनुभूति है और यही वह बात है जो निज़ाम को उन कवियों से अलग करती है जो सामाजिकता का उत्स नैतिक–या कभी-कभी राजनीतिक–आग्रहों में ढूँढ़ते हैं। अस्तित्व में ही, हमारे होने के मूल में ही, कहीं कुछ अधूरापन है, कुछ अलगाव है और सभी मानवीय रिश्ते, धर्म और कलाएँ इस अलगाव को पाटने की कोशिश है। 'समुन्दर' उनवान से लिखी तीनों नज़्में निज़ाम की इस संवेदना को बहुत ख़ूबसूरत ढंग से प्रकट करती हैं :

समुन्दर !
तुम किसे आवाज़ देते
साहिलों की सम्त भागे जा रहे हो ?
क्या तुम्हारा कोई अपना है,
जिसे तुम ढूँढ़ते हो ?
या कोई तुम से बिछुड़ कर
सीपियों की कोख के रस्ते से— साहिल पार—
दुनिया मे पड़ा आवाज़ देता है तुम्ही को ?

और तीसरी नज़्म मे यह छटपटाहट और तसादुम वह आध्यात्मिक आयाम ग्रहण कर लेता है जिस का साहस बड़ी कविता की पहचान है :

क्या तुम्हारी भी कोई अज़ली सज़ा है ?
या तुम्हें अपने गुनाहे-अव्वल की यादे-शदीद
लम्हा-लम्हा करती रहती है कशीद
कौन है वो
जिस का अहसासे-जुदाई
इस तरह मजबूर करता है तुम्हें

जुल्म करने
आप अपनी जात पर ही।

और तब समझ आता है कि 'एक कोंपल मे सिमटने के लिये बिखरते पेड' और 'मुख्तलिफ सम्तो मे अपनी जानिब बढ़ते समुन्दर' के बिम्बों का उत्स अस्तित्व के साथ एकतानता कायम करती उन की इस काव्य संवेदना में ही है।

इस का यह तात्पर्य नही है कि इस सग्रह मे कमजोर कविताएँ नही हैं। बल्कि कभी-कभी तो यह खीज भी होती है कि निज़ाम जैसा समर्थ कवि इतने सपाट या रूढ शेर कैसे कह देता है :

किताबे-जीस्त के औराक जल नही सकते
ये माना मेज से तस्वीर तो हटा देंगे

फिर आँखो से नीद चुरा ली
कोरे कागज़ की खुशबू ने।

इस तरह के कई शेर हैं जो निज़ाम के मुकाम तक नही पहुँचते—बल्कि उन शेरो का ताल्लुक निज़ाम से है यह बात मानने को जी नही करता। लेकिन कुल मिलाकर देखा जाए तो निज़ाम की कविता उन के अपने भविष्य के प्रति ही नही, कविता की ताकत के प्रति भी आश्वस्त करती है। निज़ाम की भाषा के बारे मे, उन के आत्मीय और पारदर्शी काव्य-बिम्बो की सरचना के बारे मे बहुत कुछ कहा जा सकता है। पर शायद इन सब पर पूरे अधिकार से वही कह सकता है जो उर्दूभाषा की अर्थ-छवियो और परम्परा से सर्जनात्मक रिश्ता रखता हो।

दूर कौंधती लय की तरफ़

हाँ
तू ही मेरे छिपने की
एक मात्र जगह है प्रभु !
पर इस दुःस्वप्न का क्या करूँ !
जो कई रातों से मेरा पीछा कर रहा है
और जिस में तू मुझे
उसी पुराने तालाब के किनारे
भीमसेन के हाथों
दुर्योधन की मौत मरवा रहा है !

रमेशचन्द्र शाह की कविता इसी सांस्कृतिक आस्था और उस के बावजूद—बल्कि कुछ हद तक शायद उसी के कारण भी—दुस्वप्न जैसी हो गयी मनुष्य की वर्तमान स्थिति के द्वन्द्व की कविता है। यह 'प्रभु' वह सास्कृतिक परम्परा है जिस ने अपनी सारी मूल्यवत्ता के बावजूद मनुष्य को एक दुःस्वप्न की मानसिकता मे ला छोड़ा है—बल्कि कभी-कभी लग सकता है कि शाह इस दुःस्वपन की बजाय इस बात से अधिक पीड़ित हैं कि परम्परा भी उन्हें उबार नही पा रही। आधुनिक मनुष्य का यह सास्कृतिक द्वन्द्व शाह की कविता का केन्द्रीय भाव है जो भिन्न-भिन्न रूप अख्तियार करता है। यही कारण है कि शाह अपनी काव्य-परम्परा के प्रति भी गहरे अनुराग का भाव रखते हैं। यह जानते हुए भी कि शायद वे रूप अब उतने कारगर नही हैं क्योंकि उन मे आधुनिक अनुभव की समग्र पहचान सम्भव नही है, शाह अपने इस द्वन्द्व के अनुभव के साहित्यिक प्रतिफलन के रूप मे वे कविताएँ देते हैं जिन मे 'मातृभाषा में रहे आये काव्यरूपों की एक स्वाभाविक स्मृति है' और यह सिर्फ स्मृति ही नही है, अपनी काव्य-परम्परा के प्रति एक गहरी आस्था है—इसलिए 'कविताजी सुद', 'यही क्या कम है' और 'हरिश्चन्द्र आओ' आदि कविताओं मे पुराने रूपों की स्मृतियाँ नही हैं बल्कि समकालीन अनुभव को उन रूपों के माध्यम से

देखने की कोशिश की गयी है और यही वह चीज है जो न केवल इन कविताओं के रूप को एक नया सस्कार देती है, बल्कि समकालीन अनुभव को थोड़ा पीछे हट कर दिखाती है—यानी उस से जानबूझ कर एक 'दूरी' पैदा की गयी है जिस से उस में एक अलग बिम्ब का आभास-सा होता है। इस मे एक खतरा तो है—और मैं समझता हूँ शाह भी निश्चय ही इसे पहचानते होंगे—कि इस तरह धीरे-धीरे एक 'मैनरिज्म' पनपने लग जाता है। यदि इस खतरे से बचा जा सके तो शाह कई दफा पुराने काव्यरूपो का भी एक नया रचनात्मक इस्तेमाल करने मे कामयाब हो सकते है। लेकिन यह जरूर आश्चर्यजनक लगता है कि अपनी बाकी कविताओ मे वे उन पुराने रूपों के आधार पर नये रूपों और नयी लय के विन्यास की ओर अधिक उन्मुख नही दीखते।

लेकिन जैसा कि मैंने शुरू मे सकेत किया शाह का कवि मूलत. एक ऐसा व्यक्ति है जिस का अपनी सास्कृतिक परम्परा से गहरा लगाव है लेकिन वह उस मे अब तक ऐसा कुछ तलाश कर पाने मे सफल नही हो पाया है जो अब भी उसे उबार सके और साथ ही जिस की यह आशा अभी तक पूरी तरह बुझी नही है कि वह अन्तत. कुछ न कुछ पा ही लेगा। शाह की कविता इस पीड़ा को सिर्फ पहचानती ही नही स्वयं इस आशा को जिलाये रखने की कोशिश हो जाना चाहती है। इसीलिए भाषिक स्तर पर उन की कविता एक ऐसी भाषा को पाने की क़ोशिश को इगित करती है जो संस्कृति और रोजमर्रा के जीवन को एकमेक कर सके, सस्कृति और सामान्य जीवन के बीच का सूत्र बन सके, बत-कही का अन्दाज शायद इसीलिए है। उन्हे एक ओर 'प्रभु' और अपने बीच पड गयी खाई का तीखा अहसास है साथ ही यह बोध भी कि 'पुल टूट गया है अकस्मात। मेरे ससार के बीच/सिर्फ एक काली/भुजंग सी नदी—जिस की बाढ मे/सब कुछ टूट-टूट कर/बह रहा है।' एक ओर 'प्रभु' और दूसरी ओर 'ससार' और दोनो को जोड़ने वाले पुल को अपने मे से गुजारने की—कोशिश ही शायद उन्हें कविता—की ओर मोडती है।

यह कोशिश न केवल बहुत दूर जाना है बल्कि रास्ता बीहड़ भी है और उलझनो-भटकावो से भरा भी जिस के पार जाने पर:

> . . .बहुत दूर. तुम्हे दीखेंगे
> चीटियों से रेंगते कुछ शब्द
> जो तुम्हारी आत्मा के
> गुप्तचर होंगे।

कि ये अँधेरे समकालीन ससार के भी हैं और समकालीन काव्य-जगत में व्याप्त मतवादी संकीर्णता के भी और इसीलिए अवधेश का काव्य-संसार और भी सार्थक लगने लगता है । इसीलिए अवधेश की ये कविताएँ चीख कर समकालीन यथार्थ से जुड़े होने का आरोपण नही करती बल्कि उसे अपनी पूरी रचना-प्रक्रिया में फैला कर पाठक तक बिना किसी कृत्रिम मुद्रा के सम्प्रेषित करती हैं :

> नोट कर लेने लायक नही थे : इतने बड़े नही
> थे दुस्वप्न–लिख लेने लायक नही थे।
> छोटे-छोटे ही थे याद रखने लायक
> दो पैसे-चार पैसे के लाला के उधार की तरह।

या

> एक साझी बात जो टोली के बीच अलाव-सी सुलगनी थी
> नही सुलगी : धुंआ होती रही धुन्ध पाइन के फेफड़ो में।

अवधेश के काव्य-शिल्प की सफलता इस बात में है कि इन कविताओ में वह अपने अलग से होने का अहसास बहुत कम करवाता है । वह चौंकाता नही, मुग्ध करता है जैसे हम एक भडकीले वातावरण में अचानक किसी की सादगी से मुग्ध हो जाएँ। यह कहना तो गलत होगा कि इन कविताओ में यह सादगी अनायास आ गई है बल्कि यहाँ रघुवीरसहाय को याद कर लेना बेहतर होगा कि 'सब से ज्यादा शिल्प वही होता है जहाँ वह बिल्कुल नही दिखाई देता'। अवधेश की भाषा और काव्य-मुद्रा अपने ससार का कोई बौद्धिक विश्लेषण करने की नही है। वे चीज़ो के माध्यम से किसी निष्कर्ष को प्रेषित नही करते—क्योंकि वे मूलतः 'मूड' या भाव-स्थिति के कवि हैं और इसलिए चीजो को भी एक भावस्थिति की तरह ग्रहण करते हैं। उम्मीद की जानी चाहिए कि वे अपनी कविता की ऐन्द्रिकता को बनाए रखते हुए भाव-स्थितियो से आगे अन्तश्चेतन की ओर भी उन्मुख होगे। उन की काव्य-यात्रा की सहज दिशा भी शायद यही हो सकती है।

भारतीय कला-दृष्टि की व्याख्या

भारतीय कला-दृष्टि की व्याख्या और विश्लेषण के जितने भी प्रयास किये गये हैं वे सामान्यतः साहित्य और कला के क्षेत्रों से सम्बन्धित विद्वानों ने ही किये हैं। सौन्दर्यशास्त्र दर्शनशास्त्र की ही एक शाखा है, अतः इस पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया जाना भी स्वाभाविक होता; लेकिन दर्शन के क्षेत्र से सम्बन्धित बहुत कम विद्वानों ने भारतीय कला-चिन्तन को लेकर स्वतन्त्र विश्लेषण का प्रयास किया है। ऐसी दशा में सुरेन्द्र बारलिंगे और एम. हिरयन्ना जैसे दर्शनशास्त्रियों के प्रयासों का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। एम. हिरयन्ना की पुस्तक 'आर्ट एक्सपीरियेंस' इस दिशा में किया गया महत्त्वपूर्ण अध्ययन है, लेकिन शायद मूलतः अंग्रेजी में लिखी होने और काफी समय से अनुपलब्ध रहने के कारण कला और साहित्य से सम्बन्धित चिन्तन में रुचि रखने वाले बहुत से लोग—खासकर नयी पीढ़ी के लेखक और पाठक—इस का पूरा लाभ नहीं उठा सके। इसलिए यह उम्मीद की जानी चाहिये कि इस पुस्तक का सद्यप्रकाशित हिन्दी अनुवाद 'कलानुभव' ऐसे पाठकों का ध्यान आकर्षित कर सकेगा जो कला-चिन्तन, विशेषतः भारतीय कला-चिन्तन में सामान्य रुचि भी लेते हैं।

हिरयन्ना की विशेषता यह है कि दर्शनशास्त्री होने बावजूद उन्होंने पाठक पर पारिभाषिक शब्दावली का बोझ डालने की बजाय बड़ी सहज भाषा में भारतीय दर्शन की प्रमुख प्रणालियों का सार प्रस्तुत करते हुए उस के और सौन्दर्य-चिन्तन के अन्तरसूत्रों को उजागर किया है और कला-चिन्तन सम्बन्धी समस्याओं पर भारतीय कलादृष्टि से विचार किया है। भारतीय दर्शन के विकास का उल्लेख करते हिरयन्ना ने उस की चरम उपलब्धि उपनिषदों के आत्मा के सिद्धान्त को माना है। उन के अनुसार यह सिद्धान्त संसार की अनेकता या विविधता में निहित एकता की खोज करता हुआ यह स्थापित करता है कि परम यथार्थ कोई बाहरी चीज नहीं, बल्कि मनुष्य के आन्तरिक अस्तित्व के समानरूप है। लेखक के अनुसार इस से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'सामान्य तौर पर हम जिसे यथार्थ समझते हैं, वह स्वयं में अन्तिम यथार्थ

नही है, वल्कि वह अन्तिम यथार्थ का एक समरूप भर है'। भारतीय दर्शन के दूसरे महत्वपूर्ण केन्द्र-विन्दु के रूप मे वे जीवन-मुक्ति की धारणा का उल्लेख करते हैं। हिरयन्ना इन अवधारणाओं का सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिफलन ध्वनि और रस-सिद्धान्तों मे देखते हैं जिन का उन के अनुसार भारतीय कला-दृष्टि मे केन्द्रीय महत्त्व है। 'ध्वन्यालोक' में प्रतिपादित सिद्धान्त का सार यह है कि सम्प्रेषण का महत्व व्यक्त अर्थ का संकेत करने में नही बल्कि अव्यक्त अर्थ का सकेत करने वाले माध्यम के रूप मे है। इस सिद्धान्त का तालमेल आत्मा के सिद्धान्त से बैठ जाता है क्योकि 'जिस तरह अनुभव की क्षणिक वस्तुएँ स्वयं मे यथार्थ नहीं हैं बल्कि वे यथार्थ की अधूरी अभिव्यक्ति हैं, उसी तरह शब्द और वाहरी अर्थ कविता के बाहरी रूप हैं। जब तक हम ऊपरी ढाँचे के भीतर तक न धँसें तब तक कविता से चरम साक्षात्कार नही कर सकते। यह अव्यक्त अर्थ रसानुभूति है।' हिरयन्ना इस के बाद वेदान्त और सांख्य मतो के अनुसार इस को परिभाषित करने के सिद्धान्तो की व्याख्या करते हैं जिस के विस्तार मे जाने का अवसर नही है, लेकिन यह इंगित करना अवश्य उपयोगी होगा कि वेदान्त और साख्य दोनों ही कला का उद्देश्य तटस्थता की मनःस्थिति को उत्पन्न करना मानते हैं जिस मे वैयक्तिता का विस्मरण अनिवार्य है। यद्यपि दोनों मतो में एक बुनियादी अन्तर यह है कि "वेदान्त के अनुसार कला यथार्थ की ओर एक मार्ग के रूप मे काम करती है जबकि साख्य इसे 'यथार्थ से विचलन' कहता है। एक मत प्रकृति मे जो सर्वोत्कृष्ट है उस का उद्घाटन करता है, दूसरा मत प्रकृति से भी अच्छा और कुछ निर्मित करने की चेष्टा करता है।"

कला की अन्तर्वस्तु क्या है? क्या कला का यथार्थ और कला से बाहर का यथार्थ एक ही है? कवि यथार्थ को ज्यों का त्यो प्रस्तुत करता है या किसी नयी वस्तु का आविष्कार करता है? इन प्रश्नो पर विचार करते हुए हिरयन्ना की मान्यता है कि भारतीय परम्परा मे कवि को जीवन या प्रकृति का अनुकरण करने वाला ही नही माना गया है, वह कई नये तत्त्वों का आविष्कार करता है जो प्रकृति में पहले से नहीं है। अतः उसे सृष्टा कहा गया है। कवि या कलाकार कृति में जिस अर्थ की सृष्टि करता है वही कला की अन्तर्वस्तु है। हिरयन्ना का कहना है कि भारतीय कला-दृष्टि में इसीलिए यथार्थ पर नही, यथार्थ के आदर्शीकरण पर आग्रह किया गया है। लेकिन इस आदर्शीकरण के कारण कला मे व्यक्त वस्तु असत्य नही हो जाती। यदि कला मे व्यक्त वस्तु

असत्य है तो दर्शक की उस में रुचि नही रहेगी, जबकि यदि वह वास्तविक है तो दर्शक या पाठक उस में वह सौन्दर्यानुभूति नही कर पायेगा जो उस का अभिप्रेत है। हिरयन्ना के शब्दो मे "कला मे अभिव्यक्त वस्तुएँ एक ऐसा अद्वितीय रूप ग्रहण कर लेती हैं, जिस का वास्तविक अथवा अवास्तविक कह कर वर्णन नही किया जा सकता। संक्षेप मे, हम उन के बारे मे कोई तार्किक दृष्टि नही अपनाते। हम उन की यथार्थता या अवास्तविकता पर विश्वास या अविश्वास नही करते। हम केवल उन का आनन्द लेते हैं।" यह आनन्द ही कला की अन्तर्वस्तु है जिसे सौन्दर्यशास्त्र की शब्दावली में रसानुभव और दर्शन की भाषा में आत्मानन्द कहा गया है।

इस विवेचन के आधार पर कोई यह आरोप भी लगा सकता है कि इस प्रकार तो कला अनैतिक भी हो सकती है। दरअसल, कला और नैतिकता का सवाल एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सवाल है जिस पर भिन्न-भिन्न दृष्टियो से विचार किया जाता रहा है और इस सवाल का विस्तार ही कलाकार के सामाजिक दायित्व और प्रतिबद्ध कला के सवालो को भी अपनी परिधि में ले लेता है। अगर कला पर कोई सामाजिक दायित्व न डाला जाये तो असामाजिक उद्देश्यो के लिए उस के प्रयोग पर आपत्ति का औचित्य क्या होगा? लेकिन कला के साथ सामाजिक दायित्व की अनिवार्यता को जोड देने पर कला की अन्तर्वस्तु सौन्दर्यानुभूति नही रहेगी और ऐसे मे कला की अपनी स्वायत्तता की रक्षा नही की जा सकेगी। कला का प्रयोजन यदि सामाजिक दायित्व का निर्वाह है तो कला-सृष्टि और सामाजिक आन्दोलनों की प्रेरणा एक ही माननी होगी—जो कि वास्तव मे नही होती—और कलात्मक उत्कृष्टता का मूल्यांकन भी तब इसी आधार पर करना होगा कि वह सामाजिक प्रयोजन की सिद्धि किस सीमा तक कर पाती है—बल्कि तब कला-कृति पर विचार की बजाय यह तय करना अधिक महत्त्वपूर्ण हो जायेगा कि वास्तविक सामाजिक प्रयोजन क्या है और किस विचारधारा या संगठन के माध्यम से उस की सिद्धि ठीक तरह से हो सकती है। और तब साहित्यकार की भूमिका भी क्या यही रह जायेगी कि वह अपनी विचारधारा या संगठन के साथ अपनी सर्जनात्मक लेखनी को जोड़ दे?

ये समस्याएँ बडी जटिल हैं जिन पर लेखको-कलाकारो और कला तथा नीति शास्त्र के पण्डितों के बीच काफी बहस होती रही है। अनन्त बहस के बावजूद इन पर न केवल एकमत नहीं विकसित हो पाया है, बल्कि विभिन्न दृष्टियों के समर्थक बाकायदा परस्पर विरोधी शिविरों मे बँट गये लगने लगे हैं।

हिरयन्ना इन सब सवालो के विस्तार मे तो नही जाते, लेकिन मूल भारतीय कला-दृष्टि—बल्कि भारतीय चिन्तन-परम्परा—के आधार पर इस समस्या की केन्द्रीय धुरी पर विचार करते हैं। यह केन्द्रीय धुरी है कला और नैतिकता का आपसी सम्बन्ध। हिरयन्ना की स्थापना है कि भारतीय परम्परा में कला और नैतिकता के बीच कोई द्वन्द्व है ही नही, बल्कि दोनो एक ही प्रयोजन की सिद्धि अलग-अलग रास्तो से करते हैं। उनकी मान्यता है कि 'कला और नैतिकता दोनों ही वस्तुओं की वर्तमान अवस्था के प्रति अपूर्णता के बोध से पैदा होती' है। *दोनो ही प्रस्तुत यथार्थ को अधूरा और विकृत समझती हैं।* अपनी प्रक्रिया और परिणाम मे भी दोनो के उद्देश्य समान रहते हैं। वास्तविक नैतिकता भी तभी सम्भव है जब नैतिक कर्म किसी भी प्रकार की स्वार्थ-परायणता या अहकार से मुक्त हो—तब नैतिक कर्म मानसिक सघर्ष और तनाव के स्थान पर आनन्द और उल्लास का अनुभव कराता है—वह 'सहज स्वत.स्फूर्त आनन्दमूलक' हो जाता है। हिरयन्ना की मान्यता है कि भारतीय दृष्टि के अनुसार कला को भी इसी नि.स्वार्थ मनोवृत्ति को अर्जित करना होगा क्योकि उस के बिना रसानुभूति सम्भव नही है। भारतीय कलाशास्त्र मे यदि 'सहृदय' पाठक या दर्शक की धारणा पर बल दिया गया है तो इस का कारण यही है कि काव्यानुभव और काव्यास्वाद समकक्ष प्रक्रियाएँ हैं, और केवल कवि को ही नही उस के ग्राहक को भी निजी ससार से ऊपर उठना पड़ता है—उसके बिना न तो कवि आनन्द की सृष्टि कर सकता है और न पाठक उस का अनुभव कर पाता है। पाठक को कवि के समकक्ष रखने की यह भारतीय धारणा अद्वितीय है। हिरयन्ना कहते है कि इसलिए 'सर्वोच्च प्रकार की नैतिकता वही होती है जो आनन्दमूलक और स्वतःस्फूर्त हो और सर्वोच्च प्रकार की कला वह होती है जो स्वय प्रकृति को ही अपने विषय के रूप मे रूपान्तरित कर लेती है। जब ये अवस्थाएँ उपलब्ध हो जाती हैं तो कला और नैतिकता के बीच के सारे अन्तर मिट जाते है'—सिर्फ प्रक्रियागत अन्तर को छोड़कर। और जाहिर है कि इस प्रकार कला और नैतिकता दोनो के लिए एक आध्यात्मिक बुनियाद की आवश्यकता होती है। इसलिए प्रतिबद्धता और सामाजिक दायित्व के प्रश्न उस मुकाम पर व्यर्थ हो जाते हैं क्योकि कला प्रकारान्तर से एक ऐसी सौन्दर्य-मूलक साधना हो जाती है जिस प्रकार राजनीति गान्धीजी जैसे लोगों के लिए एक आध्यात्मिक साधना कही जा सकती है। इस मूल दृष्टि के आधार पर इस तरह के अन्य सवालो को भी सही परिप्रेक्ष्य मे रखकर समझा जा सकता है।

कविता कभी नहीं हारती

हिन्दी पाठकों के लिए विदेशी साहित्य की सीमा बहुत सकुचित रही है। एक और साम्यवादी समाजो के साहित्य के नाम पर उन्हें अधिकाशतः केवल रूसी साहित्य मिलता रहा है तो दूसरी और पश्चिमी लोकतान्त्रिक समाजों का प्रतिनिधित्व केवल एग्लो-अमरीकी साहित्य करता रहा है। ऐसी स्थिति मे अफ्रीका, लेटिन अमरीका और पश्चिमी तथा साम्यवादी यूरोप की विभिन्न भाषाओं का साहित्य अपनी भाषा मे प्राप्त कर सकना हिन्दी पाठकों के लिए सम्भव नही था। आज भी इस स्थिति मे विशेष परिवर्तन नही हुआ है लेकिन पिछले कुछ अर्से से हिन्दी के कुछ रचनाकारो का ध्यान इस ओर गया है। अज्ञेय, निर्मल वर्मा, रघुवीरसहाय आदि लेखकों ने यूगोस्लाविया, चैकोस्लोवाकिया, स्वीडन, जर्मनी तथा हंगरी जैसे देशों के आधुनिक साहित्य को हिन्दी मे उपलब्ध करवाने मे सार्थक कार्य किया है। युवा पीढी के रचनाकारों में गिरधर राठी जैसे रचनाकार इस ओर निरन्तर सचेष्ट रहे है और इसी दृष्टि से उन के द्वारा अनूदित 'आधुनिक हंगारी कविताएँ' एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है।

यदि गिरधर राठी ने कविताओ के अनुवाद के साथ-साथ इस पुस्तक में आधुनिक हंगारी कविता पर एक परिचयात्मक टिप्पणी भी जोड दी होती तो न केवल पाठकों की रुचि अधिक होती बल्कि हंगारी-कविता को समझने मे भी उन को मदद मिलती क्यो कि वे उन परिस्थितियों से वाकिफ हो सकते जिन मे आधुनिक हगारी-काव्य-संवेदना का विकास सम्भव हुआ।

भूमिका की आवश्यकता इसलिए नही थी कि उन परिस्थितियो का परिचय मिल जाय जिन मे इन कविताओं ने जन्म लिया क्योकि इन कविताओ का स्वर उस के बिना भी सम्प्रेषित होता है, यह आवश्यकता इसलिए थी कि यह समझ मे आ सके कि किसी भी काल अथवा देश-विशेष की परिस्थिति जब कविता मे ढलती है तो वह कितनी सार्वभौमिक और सनातन हो जाती है और इसीलिए किसी भी जाति की बुनियादी संवेदना उस के इतिहास मे नहीं उस की

कविता मे, उस की कला में रूपायित होती है। हंगारी जाति का पिछले पाँच सौ वर्षों का इतिहास निरन्तर यातना, अपमान और संघर्ष का इतिहास रहा है। मध्यकाल मे तुर्कों और फिर आस्ट्रिया के प्रभुत्व ने हंगारी जाति की अस्मिता को कभी स्वीकृति नही दी। दोनो महायुद्धो के परिणाम उसे अनचाहे ही भोगने पडे। महायुद्ध के बाद साम्यवादी शासन की स्थापना तो हुई लेकिन रूस का प्रभाव आस्ट्रियन प्रभुत्व से कम नही रहा। उन्नीस सौ छप्पन मे हंगरी ने अपने को इस प्रभाव से मुक्त करना चाहा तो उस का वही हश्र हुआ जो बारह साल बाद चेकोस्लोवाकिया का हुआ था। जाहिर है कि इस सब का प्रभाव हगारी कविता पर पड़ता—बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि हगारी कविता ने अपनी यह लड़ाई अपनी ताकत पर लड़ी और यह प्रमाणित कर दिया कि कविता के द्वारा लडी गई लडाई किसी भी शस्त्र-युद्ध से अधिक सार्थक होती है क्यों कि शस्त्र तो हार सकते है पर कविता अपनी लड़ाई कभी नही हारती क्यो कि उसे किसी दूसरी कविता से लडना नहीं होता—उसे विरोधी परिस्थितियो के बीच अपने समाज की काव्य-सवेदना को, जो उस समाज की अस्मिता का ही एक रूप है, न केवल बचाये रखना बल्कि पुष्ट करते रहना होता है।

कुछ लोगों को यह सग्रह पढ़ कर निराशा हो सकती है-लेकिन उन्ही लोगो को जो कविता मे स्थूल ऐतिहासिकता या घटनाओ का सीधा प्रभाव ढूंढते हैं। जो जाति वास्तव मे अपने अस्तित्व की लडाई लड़ रही हो वह अपनी कविता को भी कविता बनाये रखना सीख जाती है। उस का सघर्ष उस के अस्तित्व का सघर्ष होता है, इसलिए उस की कविता भी उस के अस्तित्व का एक हिस्सा हो जाती है, जैसे वह अपने अस्तित्व का किसी अन्य चीज़ के लिए उपयोग नही करना चाहती क्योकि उसी को तो वह बचाये रखना चाहती है, उसी तरह वह अपनी कविता का भी काव्येतर उद्देश्यों के लिए उपयोग नही करना चाहती क्योकि उस का बने रहना उस जाति की अस्मिता के सघर्ष का ही एक मोर्चा है। अंग्रेजी मे हंगारी कविताओं के अनुवादों के एक सग्रह की भूमिका लिखते हुए मिकोस वाल्दा ने लिखा था कि जब कविता इतिहास की सेवा और अन्यायी के खिलाफ संघर्ष मे लग जाती है तो यह खतरा बना रहता है कि वह कला-रचना की बजाय उपदेशात्मकता का रास्ता अख्तियार कर ले लेकिन जो वास्तव मे महान कवि थे उन्होने इतिहास के इस बोझ का भी एक सार्वभौमिक मानवीय अनुभव मे रूपान्तरण कर दिया—और इस रूपान्तरण

में भी उतनी ही तात्कालिकता थी जितनी इतिहास के बोझ में। राठी के अनुवादों का यह संग्रह इस कथन की पुष्टि करता है।

लॉयोश तॉमाशी की कविता "बटोही मल्लाह" जो इस संग्रह की आखिरी कविता है, हंगारी जाति के समूचे संघर्ष का काव्यात्मक प्रतिनिधित्व करती है:

वीनस के मन्दिर से जैतून-पर्वत तक,
जीवन में कितने पक्ष, कैसे-कैसे पथ टोहता फिरा हूँ मैं !
और सब पथों का बस एक ही नतीजा है:
जूतों पर धूल की पर्तें,
कनपटियों पर पाले की मार,
और परछाईं इस कदर गाढ़ी
कि सूर्य भी छिपा न सके।

और सब पथों का बस एक ही नतीजा
कीचड़ में सने हुए पैर।
अब मेरे आगे नयी राह है जिस पर
चलने से रोक नहीं पायेगी कोई
ताकत या धूर्तता, रुकेंगे नहीं कदम

लासलो बेन्यामिन की कविता 'मलबा' का केन्द्रीय भाव भी कुछ इसी तरह के अनुभव को सम्प्रेषित करता है:

क्या हुक्मनामे जवाब हैं गहरे सवालों के ?
तह-दर-तह दलीलों के लोंदे
दिल पर, दिमाग पर, सूझ, जज्बात पर !
बाकी बचता है कंकाल।
रोटी और बिस्तर चारा है उन का
जिस में फँस जाती है हमारी
कुछ कर गुजरने की हवस।
खौफ़ की बेइन्तिहा मार, रूह को कुतरते अल्फ़ाज–
और रचने की हवस टुकड़ा-टुकड़ा हो जाती है,
तेजाब की तरह वह लावा चाट जाती है।

अवसाद का यह स्वर हंगारी काव्य-संवेदना का केन्द्रीय भाव है लेकिन यह

अवसाद न तो व्यर्थता-बोध व आत्महत्या की ओर ले जाता है और न घबरा कर किसी कृत्रिम आशावाद की ओर। वह हमें अपने में गहरे ले जाता है कि हम फिर अपने बुनियादी स्रोत से जुड़ें और ताक़त ग्रहण करें। लौरिन्स सॉंवो की कविता है 'उस एक के सपने' जिस मे वह कहते है :

> भीतर वह एक है जो बाहर हजार टुकड़ों में बँटा है !
> किसे पता है कि वह आदमी कहाँ निकल गया
> जिस ने जाल मे मछली देखी थी
> पर फिर भी जाल साबुत था ?
>
> हम मे, हमारे भीतर, न फाँट है न चौहट्टी,
> कुछ भी निषिद्ध नही, हम हैं महज वह जो हम है
> हर एक अपना एकान्त, न बुरा न भला।
> जा छुपो अपने ही भीतर गहराई मे, क्योकि वही
> महत् और मुक्त देखते हैं स्वप्न,
> तुम मानोगे
> वहाँ पसरा पड़ा है एक निर्बन्ध सागर
> इसलिए भटका था—देखूं और परखूं।
> रोटी नही, रोटी से अधिक अब जरूरत है शब्द की।
> एक माँ-सा, एक स्मृति-सा
> हमारे रक्त और आँसुओ के तीखे आस्वाद मे लिपटा।

दरअस्ल, इस तरह के अनुवादो से हम दूसरी भाषाओ की कविताओ का आस्वाद तो लेते ही हैं, हमारी अपनी भाषा की भाव-सम्पदा और अभिव्यक्ति-सामर्थ्य का भी विस्तार होता है जिस से हमारे सम्मुख नयी सर्जनात्मक चुनौतियाँ प्रस्तुत होती हैं। और शायद यही बात रचनाकारो को अनुवाद-कर्म की सर्जनात्मक आवश्यकता का अनुभव कराती है। अनुवाद और मूल मे फर्क रहना अवश्यम्भावी है लेकिन राठी के ये अनुवाद अपने मे एक स्वतन्त्र कविता की तरह लगते है क्योकि इन के आस्वाद के लिए हमे अपनी भाषा के अलावा अन्य किन्ही सन्दर्भों की आवश्यकता नही है। अनुवाद होते हुए भी भाषा मे मूल-सी कसावट है जो राठी के स्वयं एक अच्छे कवि होने की वजह से ही सम्भव हुई है।

नन्दकिशोर आचार्य

- 31 अगस्त, 1945, को बीकानेर (राज.) में जन्म
- एम. ए. (इतिहास एवं अंग्रेजी साहित्य)
  पी. एच. डी. (इतिहास)
- स्कूल में अध्यापन, पत्रकारिता और प्रौढ शिक्षण कर्म के बाद सम्प्रति रामपुरिया कॉलेज, बीकानेर में अध्यापन।
- 'एवरीमेंस' साप्ताहिक में उप सम्पादन, 'नया प्रतीक' मे सहसम्पादन, 'सप्ताहान्त' साप्ताहिक के सहयोग सम्पादन और काव्य-पत्रिका 'चिति' तथा साप्ताहिक 'अरुमरु' और 'मरुदीप' का सम्पादन। 'इतवारी पत्रिका', 'राजस्थान पत्रिका' तथा 'शिविरा पत्रिका' में लम्बे समय तक स्तम्भ-लेखन।
  राज. साहित्य अकादमी द्वारा मीरा पुरस्कार से सम्मानित।
- अज्ञेय की काव्य-तितीर्षा (आलोचना)
  कल्चरल पालिटी ऑफ द हिन्दूज (शोध)
  जल है जहाँ (काव्य)
  वह एक समुद्र था (काव्य)
  कुछ कविताएँ 'चौथा सप्तक' स. अज्ञेय, में संकलित
  आधुनिक विचार और शिक्षा (मुद्रणस्थ)
  किसी और का सपना (नाटक-मुद्रणस्थ)
  देहान्तर (नटरंग में प्रकाशित नाटक)
  किमिदम् यक्षम् (नाटक–शीघ्र प्रकाश्य)
  पागलघर (नाटक–शीघ्र प्रकाश्य)
  पालिटी इन दी शुक्रनीतिसार (शोध–शीघ्र प्रकाश्य)